

सद्-वाणी

“माईजी”



प्रकाशक :

श्री श्री आनन्दमयी चेरिटेबल सोसाइटी
भद्रैनी, वाराणसी (२२१००१)

● [सर्व सत्त्व सुरक्षित]

षष्ठम संस्करण : १९८१

मूल्य : ५० रुपया

● मूल्य : पाँच रुपया

● मुद्रक :

वावूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस

भेल्पुर, वाराणसी

निवेदन

“इस जगत् में कहने के लिए नूतन कुछ है ही नहीं। पुराना ही नया रूप धारण कर कालचक्र के अधीन पुनः पुनः प्रकाशित होता है। परमतत्त्व के विषय में यह उक्ति अत्यन्त ही सत्य है। एक ही सनातन सत्य विभिन्न युग में विभिन्न रूप में प्रचारित होकर बहुत्व में एकत्व की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा कर रहा है—एवं यही चिरंतन सत्य मानव-चित्त को सदा पवित्र और जाग्रत कर रहा है।”

“जिनके श्रीचरणों के निकट बैठ कर इन वचनों का संग्रह किया है, उनका यह उपदेश—“जिस किसी अवस्था में, जिस किसी मार्ग में, दृढ़-निष्ठा के साथ एक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने से ही अनुसन्धान सहज होता है—” सबको स्मरण रखना चाहिये—अथवा “तस्य तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ।”

परमभक्त स्वर्गीय भाईजी, श्री ज्योतिषचन्द्र राय ने श्री श्री माँ आनन्दमयी के कुछ वचनों का संग्रह बंगला भाषा में प्रकाशित किया था। बंगला न जानने वाले हमारे भाई-बहनों के प्रीत्यर्थ अब उस पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किया गया। आशा है माँ की अमृत-मयी “सद्-वाणी” पाठकों को आत्मानुसन्धान के लिए अनुभावित और उत्साहित कर आनन्द देगी।

सद्-वाणी

१

मनुष्य स्वाधीन गति के अभाव से कर्म-क्षेत्र में पंगु हो जाता है। धर्म-क्षेत्र में भी ऐसा होता है। अपनी-अपनी चिन्ताओं का प्रसार न मिलने से साधक की साधन-चेष्टा संकुचित हो जाती है, अतएव जो जिस मार्ग पर अग्रसर हो रहा है, उसी मार्ग में शुद्ध-भाव की परिपुष्टि लाभ करने के लिये अपने-अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करे। जब लक्ष्य प्राणमय हो जायेगा तब जिसको जो आवश्यक हो—“आप से आप हो जायेगा।”

२

आकृष्ट होने के माने हैं परिवर्तन होना। तुम जब कभी किसी मनुष्य, किसी वस्तु या भाव के ऊपर आकृष्ट होते हो, तभी तुम्हें अपना कुछ त्याग करना पड़ता है।

यह स्वतः सिद्ध है कि जितना त्याग करोगे, उतना ही पाओगे। यह कभी नहीं हो सकता है कुछ भी त्याग न करो और सब पा जाओ, कारण, एक समय और एक ही स्थान में दो वस्तुएँ नहीं रह सकतीं। और त्याग के बिना कोई भी कर्म नहीं चलता, भगवान् के भाव में मन-प्राण को जितना अधिक लगाओगे, भोग-वासनाएँ उसी परिमाण में कम होती जाएँगी; और जिस समय उनमें आकृष्ट, परिवर्तित और अनुभावित हो जाओगे उसी क्षण मन का लय हो जाएगा। यह ठीक है कि, उनका आकर्षण अन्तर में जाग्रत न होने से, आकर्षित नहीं हुआ जाता, फिर भी उस अनुभूति के लिये दृढ़-चेष्टा की आवश्यकता है, इसीलिये व्यापारियों के दैनिक बाजार भाव जानने की तरह प्रतिक्षण उसके सम्बन्ध में आलोचना करनी चाहिये।

सीमा के अन्दर एक ही भाव को लेकर रहने से जब लक्ष्य स्थिर हो जाता है तब सीमा का बन्धन

खुल जाता है और एक हो अनेक और अनेक ही एक प्रतीत होता है। असीम तक पहुँचने की शक्ति प्राप्त करने के लिये पहले सीमाबद्ध होकर चलना उचित है; जब तक देहात्मज्ञान प्रबल है तब तक अपने को आचार-विचार अथवा लौकिक नियमों के बन्धन में रखना ही उचित है। इसके लिये धैर्य चाहिये, सहिष्णुता चाहिये; विश्व-प्रकृति स्वयं अस्थिरा होने पर भी कभी भी किसी की चञ्चलता में सहायक नहीं होती।

४

साधन की दस अवस्थाएँ।

प्रथम—भगवान् की ओर मन की गति का तीव्र होना।

द्वितीय—चञ्चलता का आना।

तृतीय—शीघ्र ही उसे दिल भर कर चाहना।

चतुर्थ—चतुरता से उसकी ओर अग्रसर होना।

पंचल—मन का ऊर्ध्व-गति के लिये व्याकुल होना।

षष्ठ—नेत्रों का निरन्तर अश्रु-वर्षण करना।

सप्तम—आनन्द-सागर में तैरने की इच्छा।

८ ष्टम—रात-दिन इष्ट मन्त्र का जप करना ।

नवम—आत्म-विस्मृत भाव का उदय होना ।

दशम—दशवें स्थान में उठकर साधक का सिद्धि
लाभ होना ।

५

भव-यन्त्रणा के बिना भव-यन्त्र के यन्त्री के साथ
परिचय की इच्छा जाग्रत नहीं होती । अतएव रोग,
शोक, अभाव, अनुताप इत्यादि मनुष्य जीवन के लिए
आवश्यक है । जिस प्रकार अग्नि मैले इत्यादि को जला
देती है, उसी प्रकार त्रिताप द्वारा हृदय की मलिनता
नष्ट होती है और भगवान् के प्रति एकाग्रता होती है ।
हृदय में जब अपनी दुर्बलता और उच्छृङ्खलता इत्यादि
के स्मरण से व्यथा होती है तथा पीड़ा, दारिद्र्य,
स्त्री-पुत्र का वियोग, अपमान इत्यादि से जीवित रहना
व्यर्थ प्रतीत होता है, तभी विश्वास और श्रद्धा से
मनुष्य भगवान् के चरणों में आत्म-निवेदन करने को
व्याकुल हो उठता है । इसी कारण से दुःख को स्वीकार
करो । ग्रीष्म के ताप से दग्ध चित्त को चन्द्र-किरणें

जितनी मधुर लगती हैं, अन्य किसी भी समय वैसी प्रतीत नहीं होती ।

६

तुम कहते हो कि “हम भगवत्-लाभ चाहते हैं” विचार कर देखो, क्या तुम मन-प्राण से चाहते हो ? वास्तव में यदि तुम चाहो तो उन्हें अवश्य पा सकते हो । उन्हें चाहने का क्या लक्षण है, जानते हो ? जैसे डूबने वाली नाव का यात्री किनारा चाहता है, पुत्र-शोकानुर माता, पुत्र को चाहती है, उसी भाव से यदि तुम भगवान् को चाहो तब देखोगे कि वे दिन-रात तुम्हारे साथ-साथ हैं । तुम उससे संसार की अनेक वस्तुएँ चाहते हो, इसीलिए वे तुमको धन, जन, प्रतिष्ठा इत्यादि देकर भुलाकर रखते हैं । उनको उन्हीं के लिये चाहो, निश्चय ही उनका दर्शन लाभ करोगे ।

७

संसार में श्रद्धा व उपेक्षा की कोई वस्तु नहीं है, वे अनन्त भावों और अनन्त रूपों से अनन्त खेल

खेलते हैं। वहुन होने से यह खेल कैसे चले? देखते नहीं प्रकाश और अन्धकार, सुख और दुख, अग्नि और जल किस प्रकार एक ही शृङ्खला में बँधे हुए हैं। याद रक्खो, शुद्ध भाव के ही साथ साधना होती है। हम जितने ही अशुभ तथा संकीर्ण चिन्ताओं को आश्रय देते हैं, उतने ही हम संसार के अमञ्जल के कारण सृजन करते हैं। दूसरे का क्या है, क्या नहीं है, तुम्हें इस विचार से क्या मतलब? स्वयं ही तैयार रहो। स्वयं सुन्दर होकर सुन्दर हृदय-आसन में चिर-सुन्दर को यदि प्रतिष्ठित कर सको तो सब ही सुन्दर प्रतीत होगा।

C

किसी के साथ भेट होने पर प्रायः सुनने में आता है, “तुम्हें कोई असुविधा तो नहीं हो रही?” तुम दूर रहना चाहते हो, इसीलिये ऐसा प्रश्न आसानी से करते हो। वास्तव में देखो, जब तुम अपने माँ-बाप, भाई-बहन के पास जाते हो तब क्या तुम्हारे मन में यही प्रश्न आता है? वहाँ उसका स्नेह तुम्हारे मन के

अनुकूल होता है। इस कारण उनकी कोई असुविधा तुम्हारी दृष्टि को आकर्षित नहीं करती। तुम यदि समझो कि यह शरीर तुम्हारा अपना ही है, तब इस शरीर के पास आने से तुम्हारे मन में ऐसे प्रश्न का उदय न होगा। जब जहाँ भी जाओ पूर्ण मन से जाओ, तब देखोगे कि कोई किसी का पराया नहीं है। तुम्हारी जब इच्छा हो मेरे पास आना। तुम्हें देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है। तुम सब तो एक आनन्द की ही प्रतिमूर्ति हो।

९

संसार में सब एक ही पिता की सृष्टि है, इस कारण कोई भी किसी से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार एक परिवार में बहुत से वच्चे होने पर जीवन-निर्वाह की सुविधा के लिये दसियों प्रकार की वृत्ति का अवलम्बन कर दस जगह दस घर बनाकर वे लोग रहते हैं, वैसे ही मूल रूप में एक होते हुए, सब लोग विभिन्न, कर्मशृंखला के वश में होकर केवल मात्र कई प्रकार से कई भागों में अलग-अलग होकर रहते

हैं। संसार में जिस तरह रोग निवारण के लिये एलो-पैथिक, होम्योपैथिक, वैद्यक इत्यादि व्यवस्थायें हैं, जिसको जो उपयोगी है, वह उसी चिकित्सा को करता है, उसी प्रकार भव-रोग के लिए शास्त्र-वाक्यों और साधु-मुख से नाना विधान, नाना उपदेश कहे गये हैं, लक्ष्य सबका एक ही है। हिन्दू, मुसलमान, शाक व वैष्णवों के विभिन्न-मार्ग उसी के द्वार पर पहुँचाते हैं। रेल के स्टेशन पर जाने वाले मार्ग में ही जितना कोलाहल, धक्कमधक्का होता है। प्लेटफार्म पर पहुँचकर सभी का गन्तव्य-स्थान निर्दिष्ट है।

१०

प्रभु एवं दास दो होने पर भी मूलतः एक ही हैं। प्रभु जब करुणामय होकर नीचे अवतरण करते हैं, तब दास होते हैं। दास जिस तरह प्रभु के बिना नहीं चल सकता, प्रभु को भी उसी तरह दास का भरोसा रखना पड़ता है, परस्पर का इस प्रकार नित्य सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरा नहीं रहता। दास के शरणागति के लिए प्रभु ही एक मात्र आश्रय हैं। प्रभु की सेवा के

सम्बन्ध में भी दास ही एकमात्र अवलम्बन है। जो पूर्ण अथवा अखण्डभाव से प्रभु हैं, वे ही खण्ड या अंश रूप में दास हैं। अथवा दास प्रभु के खण्ड भाव का विकास मात्र है। तुम जो दास-दास करते हो, वह तो केवल बात की बात है। दास तो थे हनुमान, गरुड़ इत्यादि। उन्होंने प्रभु के भाव में अपने को इस प्रकार अर्पण कर दिया था कि उनकी अपनी स्वतन्त्र-सत्ता ही नहीं थी। पूर्ण दासत्व चाहिए, प्रभु के उद्देश्य में धन, जन, मन और देह इत्यादि सर्वस्व पूर्ण-रूप से समर्पण न करने पर यथार्थ दासत्व नहीं होता और प्रभु की ओर से भी चपरास (निशानी) नहीं मिलती।

११

ऐसा प्रतीत होता है कि यह संसार मृदंग की तरह है, और इसका एक वादक है। वह जो बोल बजाता है, वही बजता है। देखा है कि कीर्तन में मृदंग की तालों पर बहुत लोग नाचते हैं, गाते हैं, किन्तु वाद्य यन्त्र और वादक के प्रति कितने लोगों की दृष्टि रहती है?

संसार में जिनके आनन्द का कणमात्र लेकर सभी सुख से दिन बिताते हैं, उनका कोई जानने के लिए उत्सुक नहीं ! सब विषय के मूल रूप में जो विद्यमान है, उसका अनुसन्धान करो यही है तपस्या, यही साधना ।

१२

बहुतों के मुख से सुना है कि “संसार में रहने से धर्म-लाभ नहीं होता ।” क्या यह बात पूर्ण-सत्य है ? गार्हस्थ-जीवन में धर्म-लाभ की कितनी सुविधा है ? पिता-माता का स्नेह, भाई-बहन का अनुराग, पति-पत्नी का प्रेम, पुत्र-कन्या की भक्ति-पूर्ण श्रद्धा, रिश्तेदारों और मित्रों का प्रेम, आश्रित और दीन-दुखियों का आशीर्वाद इत्यादि धर्म-जीवन में कितने सहायक हैं—यह सोचने से ही पता लगेगा । संसार के सुख-दुःख के आनंदोलन से मन घिसकर कभी-कभी मनुष्य के मन में वैराग्य उत्पन्न करता है और ईश्वर को पाने के लिए व्याकुलता पैदा करता है । उस अवस्था का सुयोग कभी-कभी गृहत्यागी साधुओं को भी प्राप्त नहीं होता ।

१३

“भगवान् का भजन करना चाहता हूँ, किन्तु नहीं कर सकता” क्या इतना कहने से हो जायेगा। घर में यदि साधारण बीमारी हो तो समय-असमय डाक्टर और वैद्यों के यहाँ कितने चक्कर लगाते हो, यदि कोई सांसारिक कार्य बिगड़ जाय तो उसे ठीक करने के लिए कितने ही यत्न करते हो, परन्तु जैसे ही ईश्वर-भजन (चिन्ता) का पाला पड़ा कि उसकी कृपा की दुहाई देकर एक ओर हो जाते हो। कर्मियों के लिए क्या यह उचित है। एक बार उत्साह के साथ जाग उठो, फिर खूब स्मरण कर सकोगे। अपने शरीर को स्वस्थ, सुन्दर बनाने के लिए जिस तरह से यत्न करते हो, उसी तरह मन को तैयार करने की व्यवस्था करो, देखना, भजन का भाव मन में अवश्य ही आयेगा। केवल तत्त्व को लेकर बैठे रहने से काम नहीं चल सकता। उसी के अनुसार कर्म और अभ्यास भी करना चाहिए। एक लक्ष्य होकर कर्म करते-करते कर्म-सिद्धि का कौशल स्वयं विदित हो जाता है।

मन में चाव्चल्य, अस्थिरता, संशय आदि अनेक दोष क्यों न रहें, किन्तु आनन्द ही इसकी मूल प्रकृति है, मन तो केवल शिशु की तरह बिना विचारे जहाँ-तहाँ, अच्छे बुरे में आनन्द ही ढूँढ़ता है। किन्तु संसार के प्रत्येक आनन्द के छोटे-छोटे खण्ड मन को अधिक समय तक स्थिर नहीं रख सकते। जैसे बच्चों को प्यार और ताड़ना दोनों ही से शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार मन को भी तैयार करो। सत्संग शुद्धभाव सदालोचना इत्यादि द्वारा मन को बाहर भीतर पुष्ट करो। इससे क्रमशः यह ताप-शून्य होकर परम पद में विश्राम लाभ करने के उपयोगी होगा। जैसे युद्ध-क्षेत्र में आक्रमण करने की अपेक्षा आत्मरक्षा का सबसे पहले आयोजन किया जाता है, उसी प्रकार शुभ-कर्मादि से मन को विवेक और विचार-पूर्वक सावधान रखो, जिससे भोग-तृष्णा रूपी बाहरी शत्रु इसको चाव्चल न कर सकें। मन का शत्रु और मित्र मन ही है। मन से मन की अज्ञानता दूर करनी होगी। मनको

निर्मल करने का सबसे सरल उपाय साधु-सङ्ग और निरन्तर भगवत् नाम कीर्तन है।

१५

मनुष्य केवल बाहरी सुयोग और सुविधा को ढूँढ़ता फिरता है, किन्तु यह कोई नहीं समझता कि बाहरी सुविधा असुविधा को लेकर जितनी देर सोच विचार चलेगा उतनी देर बाहर ही रहना होगा। बाहर-भीतर एक साथ देखने की चिन्ता न करने से उसका सन्धान नहीं मिलता। देह, धन, जन, गृह इत्यादि बाहरी हैं; और भीतरी हुआ—आत्म-चिन्ता या सब चिन्ताओं में उसकी चिन्ता को सम्मुख रखने की चेष्टा करना। देह का आराम और मन के आराम के प्रति लक्ष्य रखकर चलने से केवल बाहरी भाव पुष्टि लाभ करते हैं, भीतर की मलिनता रह जाती है इसलिये चित्त की मलिनता का परिष्कार करते-करते जन्म-जन्मान्तर बीत जाते हैं। जितने दिन बाह्य-चिन्तन को दूर नहीं कर सकते, उतने दिन भीतर की ओर भी साथ-साथ लक्ष्य रखो। आत्मतत्त्व का अनुसन्धान

करो, नित्यानन्द का ध्यान करो । शुभ मुहूर्त के उदय होने पर देखोगे कि धीरे-धीरे सब ध्यान एक-मुखी होकर बाहर-भीतर एक हो गया है ।

१६

तुम जो सात्त्विक आहार के विषय में इतनी युक्ति-तर्क करते हो, मेरा कहना है कि सात्त्विक आहार के माने हैं—“सद्ग्रावों का आहार अथवा सत्य व भगवान् में प्रतिष्ठित रहना ।” यदि तुम एक बार उबला हुआ आहार करो परन्तु मनको दिन-रात विषय-भोगों की चिन्ता में निमग्न रखो, तो उससे सात्त्विक आहार की सार्थकता क्या रही ? चित्त-रूपी खली में नाम व आत्म-विचार रूप औषधि को शुद्ध आकांक्षा मधु के साथ घर्षण कर पान करो, आवश्यक पथ्य और अनुपान की व्यवस्था भीतर से स्वयं हो जाया करेगी । सब समय उद्देश्य को सत् रखना । शरीर के साथ-साथ मन से काम करोगे तो उसी से मन और देह सात्त्विक होकर सात्त्विक आहार का फल देंगे । ‘भोग मात्र ही खाद्य है’ जानकर

सावधान रहना है। कहीं खाद्य ही तुम्हें न खा जाय, तुम सर्वदा खाद्य को अपने अधीन रखने की चेष्टा करना।

१७

पुकार तो केवल एक ही है। उसी पुकार के लिये नाना जातियों में नाना व्यवस्थायें हैं। जिस दिन किसी को वैसा पुकारना आ जाता है, उस दिन उसके लिए पुकारने या न पुकारने का छन्द मिल जाता है। वास्तव में तुम उसे पुकारते नहीं हो, वही सर्वदा तुम्हें पुकार रहे हैं। जिस प्रकार निस्तब्ध-रात्रि में देव-मन्दिर के शङ्ख-घण्टों की ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनाई देती है उसी तरह उसके प्रति अनन्य भाव-भक्ति के द्वारा विषय-विक्षुब्धता शान्त होने से उस पुकार का प्रतिध्वनि आकर पूर्ण रूप से अन्तनादित होती है तभी वास्तविक पुकार निकलती है। ऐसा सब ही को होगा। क्योंकि जब शिव जीव रूप में परिणत हुए हैं, तो जीव भी फिर शिव रूप में परिणत होगा। जल और बर्फ की तरह जीव और शिव का यह खेल हमेशा से चला आ रहा है।

१८

संसार में किसी को छोड़कर कोई नहीं चल सकता, प्रत्येक एक दूसरे से थोड़ा बहुत सम्बन्ध और निर्भरता का अधिकार रखता है। विधाता की सृष्टि-रक्षा के लिये हमारी आवश्यकता है, तुम्हारी नहीं, ऐसा कोई नहीं कह सकता। राजा न होने से जैसे शासनतन्त्र नहीं चलता वैसे ही प्रजा रहने पर ही राजा रह सकता है, सभी अपने-अपने निर्दिष्ट-कर्म-पथ में हैं, विश्वपिता की इच्छा पूर्ण करते हुए उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो रहे हैं। अतएव गुण या अवस्थादि के अनुसार स्वयं बड़ा व दूसरे को छोटा समझना भूल धारणा है, विराट् जगत् को खण्ड-खण्ड न देखकर समष्टि रूप में देखो, तो इस सम्बन्ध में और किसी तरह के सन्देह का स्थान न रहेगा। जो अपने को सम्मान करना जानता है, वह दूसरे का उससे भी अधिक सम्मान करता है। सम्मान के बिना श्रद्धा नहीं आती है, श्रद्धा न होने से प्रेम जाग्रत नहीं होता, इसलिये प्रेम के अभाव के कारण प्रेम के ठाकुर (देवता) बहुत दूर रह जाते हैं। उनका कोई पता नहीं चलता।

१९

आदि सबका एक है; एक ही से इस विश्वब्रह्माण्ड का प्रकाश है। हिमालय जिसने देखा नहीं है, वह नाम सुनकर समझेगा कि हिमालय केवल एक पहाड़ है, किंतु हिमालय के नीचे खड़े होकर देखोगे कि सैकड़ों पहाड़, लाखों पेड़, जीव-जन्तु और जरने इत्यादि को लेकर कितने ही योजन के विस्तार में यह गिरिराज हिमालय विराज रहा है। उसी तरह साधना के राज्य में जो समीप आयेगा, जो कितना भीतर प्रवेश कर सकेगा, वह देखेगा कि एक ही के अनेक रूप हैं और अनेकों का एक रूप है। हम सर्वदा एक ही को लेकर चलते हैं किन्तु अनेकों में भले रहते हैं, एक-एक पाँव चलकर सीखने से चलना आता है, एक-एक ग्रास खाने से क्षुधा निवृत्त होती है। एक-एक अक्षर की योजना करने से शब्द बनता है, एक-एक दिन की गणना करने से मास, एवं एक-एक मास वर्ष में परिणत हो जाता है।

तुम्हारे मुँह से सुना जाता है “एकमेवाद्वितीयम् ।” वास्तव में वैसा ही है; संसार में एक से अलग कुछ

नहीं है। रूप, रस, गन्धादि को लेकर ही संसार है; इनमें से प्रत्येक विविध रूपों प्रकाशित होकर दृष्टि महिमा को प्रकट करता है, किन्तु एक ही से इनका आविभवि और एक ही में लय; एवं एक की पूर्णता के लिये ही सबकी सार्थकता है। एक लक्ष्य होकर एक रूप, एक रस, एक गन्ध, स्पर्श अथवा एक शब्द में प्रतिष्ठित होने की चेष्टा करो, उस समय देखोगे इसी एक के भीतर सब सम्मिलित हैं। इसी के बाद उपलब्धि होगी। एक ही सब हैं, सभी एक हैं एवं उसी एक के अतिरिक्त और कोई अस्तित्व नहीं है।

२०

जितने दिन कहना सुनना है, उतने दिन खूब कम बोलो। जो कोई कहे सुनकर हजम करो, और जब नितान्त आवश्यक हो तो होम्योपैथिक की मात्रा के बराबर थोड़ा सा कुछ कहो। तुम देखते हो एलोपैथिक औषधि की मात्रा कितनी बड़ी होती है, किन्तु देखा जाता है कि कभी-कभी होम्योपैथिक की एक बूँद

उससे अधिक कार्य करती है। अधिक बातों में अपनी प्रशंसा, पाण्डित्य का खान और तर्क-वितर्क के सिवाय और क्या है? बात से काम का जोर बहुत ज्यादा है। वाहरी बात व तर्क से मनुष्य मनुष्य नहीं बनता। भीतर मन के साथ विचार करके अन्तःप्रवृत्ति को स्थिर करो, देखने व कहने सुनने की इच्छा कम हो जाएगी।

२१

सदैव उन्नति की ओर देखकर उन्नति के पथ पर चलो। निम्न दृष्टि करने से अथवा लक्ष्य नीचा रखने से अवनति रूपी पाताल के गढ़े में गिर जाओगे सीधे रास्ते पर चलते-चलते तुमने ऊर्ध्वदृष्टि रखना कम कर दिया है। किन्तु सम्मुख व वर्तमान को लेकर चलने का तुम्हारा जो अभ्यास हो गया है उसे भी तो किसी काम में नहीं लगाते। उन्नति की ओर देखने का अभ्यास करो। सर्वदा उन्नति की ओर दृष्टि न रख सको तो कम से कम समान या वरावर की दृष्टि तो रख सकते हो। उन्नति की ओर उठने के साहस का

नाम ही उत्साह है। देह चलती है किंतु मन नहीं चलता और मन चलता है तो देह नहीं हिलता। प्रायः यही शिकायत सुनने में आती है। उस समय जोर देकर क्रियाशील होना पड़ेगा, नहीं तो पतन अनिवार्य है। सब काम में साहस चाहिये, क्योंकि साहस ही शक्ति है।

२०

तुम सब समय खुले शरीर, खुली हवा और खुली जगह में रखने की चेष्टा करना। खुले पहाड़, खुले समुद्र दिल भरकर देखना, खुले मन से बातचीत करना। यदि और कुछ न कर सको तो अवसर मिलने पर आकाश की ओर टकटकी लगाये देखते रहना। ऐसा करते-करते देखोगे कि तुम्हारे जड़-ग्रन्थियों के बन्धन शिथिल होकर तुम्हें मुक्त कर रहे हैं। पूर्ण चेतना खुले आधार में निवास करती है, बन्धन पंगु कर देता है। संसार में तुमने केवल देह को लेकर ही प्रवेश किया था, फिर इस देह को छोड़कर जाना होगा। बीच के समय में जो अतिरिक्त आवरण या आभरण

का बोझ बढ़ाया है, उसे छोड़ने में दुःख होगा। देह हल्की रख्खी, मन हल्का रहेगा। इस प्रकार देह और मन दोनों हल्के होने से जीवात्मा की सहज ही में मुक्ति होगी।

२३

धन दौलत किस लिये हैं? हमारी जीविका के लिये पुत्र और परिवार के भरण-पोषण के लिये है। पुत्र परिवार किस लिये हैं; सीधी तरह से जवाब देने पर कहना होना “हमारे लिये।” उसके बाद यही प्रश्न किया जाय कि यह “मैं” कौन है? तो कोई उत्तर न मिलेगा। यह हुई तुम्हारी बुद्धि की दौड़। “मैं कौन हूँ” एक बार अच्छी तरह चिन्ता कर देखो तो देखोगे कि पोथी पत्रों में स्कूल-कालेज में बैठकर तुमने, जो कुछ पढ़ा है या कर्म-क्षेत्र में जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसके भीतर इसका कोई जवाब नहीं है। “मैं और मेरा” का संधान पाने के लिये पुरानी चिन्ता-धारा को बदलकर उसी एक तत्त्व की साधना में मनोयोग देना होगा। जब चित्त चंचल हो, तभी दृढ़ता से उसे दमन कर रखना होगा। यही आत्मदर्शन का उपाय है।

२४

कोई वैराग्य अरुणोदय के समय घर-घर हरिनाम कर चला गया। हजारों लोगों ने सुना, किन्तु मन में, (याद) किसके रहा? इसका क्या कारण है? कान तो सभी के हैं; तब बात यह है कि अधिकांश लोगों को सांसारिक स्वर इतना मनोहर लग गया है कि धार्मिक स्वर उनके कानों में नहीं पड़ता। इसका एक मात्र उपाय यही है कि प्रतिदिन “हरि” व किसी भी ईश्वरवाचक नाम का जप करो। दस हो; चाहे दस हजार हो, यदि यह न हो तो प्रतिदिन कुछ समय उपासना, आत्म-विचार, साधुसंग, सदालाप इत्यादि में व्यतीत करो, इस प्रकार क्रमशः यह देह-यंत्र धर्म संगीत ग्रहण करने के लिये उद्गीव हो उठेगा। जिस प्रकार प्रतिदिन मनोयोग से अभ्यास न करने से कोई विद्या नहीं आती; इसी प्रकार आत्म-तत्त्व भी साधना का विषय है, यह ध्यान रखना आवश्यक है। घड़ी में चाभी देने की तरह मन रूपी यन्त्र में कम से कम एक बार भगवद्भाव की चाभी देने से चित्तशुद्धि में बहुत सहायता मिलती है।

२५

किसी के दोष को न देखो, उससे नेत्र और मन मलिन होते हैं एवं संसार में पाप का बोझ बढ़ता है। इसलिये जो कुछ देखो, सुनो, उसके भीतर केवल भलाई की ओर ध्यान रखो। भला ही सत्य और जीवन है; बुरा तो केवल छाया दर्शन मात्र है। कभी कोई बुरा नहीं होना चाहता एवं दूसरे का संग करने की इच्छा होने पर ही याद रखना कि भलाई का सन्धान ही तुम्हारा उद्देश्य है। सचमुच यदि तुम्हारे विचार बाहर भीतर समान हों तो मन प्रफुल्ल और पवित्र रहेगा एवं बुद्धि और विचार शुद्ध होंगे। तब तुम कहीं भला छोड़-कर बुरा न पाओगे। पूर्ण तो एक मात्र भगवान् हैं, अन्य कोई नहीं, दूसरे के गुण देखते-देखते थोड़ा बहुत तुममें भी प्रवेश करेंगे, कारण, जो जैसी भावना करता है वैसा ही होता है। वास्तव में दूसरे के गुणग्राही होने से जो तृप्ति मिलती है, अपने गुण देखने से वह नहीं मिलती। अपने गुणों को देख-देखकर अहंकार की वृद्धि होती है, और दूसरे के दोष और दुर्वलताओं की ओर दृष्टि जाती है।

२६

जिसका मन सावधान व आत्म-चिन्ता में रत है उसे मनुष्य कहते हैं। मनुष्य न होने पर अतिमानव नहीं हुआ जाता। समाज और नीति के अनुशासन पर चलते-चलते मनुष्य को मनुष्यत्व लाभ होता है, उसके बाद पारमार्थिक भावादि आकर जब मनुष्य को भावित करते हैं तब वह मोह की सीमा लांघकर अतिमानव होता है। मनुष्य अभाव को पूर्ण करने की चेष्टा करता है; और अतिमानव स्वभाव की प्रतिष्ठा करता है। मनुष्य का कर्म मनुष्य को अभाव से स्वभाव में जाग्रत करता है और अतिमानव का कर्म उसको स्व-भाव में या त्याग में और प्रेम से पूर्ण करता है। सबसे पहले मनुष्य बनने की चेष्टा करो।

२७

ईश्वर आनन्दमय है इस कारण उनके सृष्टि वस्तु मात्र के जीवन का लक्ष्य आनन्द करना है। सब समय आनन्द दो, लो, देखो, सुनो; इसी से आनन्द के भीतर रह सकोगे। निरानन्द मृत्यु का लक्षण है, निखिल विश्व इसका सहायक नहीं है। मन में निरानन्द आने पर

उसे बल-पूर्वक दूर करो, और सोचो मैं आनन्दमय का सन्तान हूँ, निरानन्द में क्यों रहूँ ? धनी आदमी का लड़का कभी गरीब कहकर अपना परिचय देना चाहता है ? यदि उसका पैतृक-धन नष्ट भी हो जाय तो भी वह अपने को बड़े घर का लड़का समझकर सन्तुष्ट रहता है, और तुम्हारा सब-कुछ पूर्ण होने पर भी फ़क़ीर होकर दिन काट रहे हो ? शरीर के मेरु-दण्ड (रीढ़ की हड्डी) को सीधा न रखकर कभी कोई काम होता है ? साहब लोगों के बात-चीत, चाल-चलन को देखते हो, उनमें कैसी स्फूर्ति है ! सांसारिक हितकार्य में उन्होंने अपने मन प्राण को इस तरह लगा दिया है कि सारा भोगैश्वयं उनके हस्तगत है । भय, उद्वेग और निराशा इत्यादि को सब समय भगाओ । जहाँ आनन्द उत्साह और उद्यम है, वहाँ महाशक्ति वर्तमान है । मनुष्य की शुभ-चेष्टा के अन्तस्थल में ईश्वर के दर्शन करना सीखो, इससे स्थूल कर्मतत्त्व के भीतर सूक्ष्म व्राह्मतत्त्व में अग्रसर होकर परमानन्द लाभ कर सकोगे ।

प्रकार मनुष्य अपने दोष को नहीं देख सकता; अतएव मनुष्य को अपना निन्दा आग्रह-पूर्वक सुननी चाहिये क्योंकि उससे आत्म-परीक्षा में सुविधा होती है। किंतु प्रशंसा से वैसी नहीं होती बल्कि प्रशंसा से तो हानि के अतिरिक्त लाभ नहीं है। अधिकांश लोग इसके विपरीत सोचते हैं। उन्हें प्रशंसा अच्छी लगती है और निन्दा से वे घबड़ाते हैं। परिणाम यह होता है कि निन्दा प्रशंसा की अधीनता से जीवन का न छुड़ा सकने पर मनुष्य अनेक विषयों में असफल होता है। व्यावहारिक जीवन में इनकी ओर लद्य रखकर चलना आवश्यक होता है। परन्तु धार्मिक जीवन में निन्दा व प्रशंसा दोनों की ओर उदासीन न रहने से आन्तरिक स्थिरता नहीं आती। अन्तर को तैयार करने के लिए एक लक्ष्य और एक ध्यान की आवश्यकता है। इसलिये इसके अनुकूल कर्म और भावादि लेकर एकमुखी होकर रहने का प्रयोजन है, एवं वहिदृष्टि को जहाँ तक सम्भव हो त्याग देना चाहिये।

कर कि वे सब कामनायें पूर्ण करते हैं, जीव उसकी चिन्ता करता है एवं लगातार उसकी चिन्ता करने से अन्य कोई चिन्ता नहीं रहती तथा उसके भाव में जीव अनुप्राणित हो जाता है। अर्थकामी की अर्थ-चिन्ता या पुत्रकामी की पुत्र-चिन्ता की तरह उसकी चिन्ता भी खूब तीव्र होनी चाहिये। जीवन-यात्रा की सर्वं चिन्ताओं के भीतर उसे सबसे आगे रखकर चलने से क्रमशः लक्ष्य ठीक होता है। इस प्रकार उसे यदि हृदय के केन्द्रस्थान में बिठाया जा सके तो वे सेवक की सब चिन्ताओं का भार लेकर केवल उसकी चिन्ता के लिये उसे मुक्त रखते हैं। त्यागी संन्यासियों के भीतर भोगी गृहस्थियों के भीतर, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों के भीतर भी ऐसे कई उदारण पाओगे, वनस्पति पर्यन्त उसकी कृपा के अधिकारी हैं। पतंग उड़ाकर, डोरी पकड़कर उसकी शरण में निश्चन्त मन से चुपचाप बैठे रहो, हवा उसे अपनी गति से स्वयं चलाया करेगी।

३०

सर्वदा जितना हो सके खूब हँसो। इससे शरीर की जड़-ग्रन्थियाँ खुल जायेंगी। पर वाहरी हास्य हँसना

नहीं है। बाहर-भीतर को एक कर के हँसो। वह हँसी कैसी होती है। जानते हो। उससे सिर से पैर तक आलोड़ित होता है। शरीर के किस अंश में सबसे स्फूर्ति है पता नहीं चलता। तुम तो मुँह से हँसते हो किन्तु मन दबा रहता है। मैं तुमसे मुँहभरी, मनभरी और प्राणभरी हँसी चाहता हूँ। उसी हँसी के लिये आत्मशक्ति के ऊपर दृढ़ विश्वास रखकर बाहर-भीतर एक करने की चेष्टा करो, आवश्यकताओं की वृद्धि न करके, अभाव के बोध को प्रश्रय न देकर, गुद्ध-भाव से जीवन-यात्रा निवाहि करो एवं स्वार्थ और परार्थ को एक करके सब तरह से अपने को उसके चरणों में लगाये रखो तो देखोगे कि तुम्हें ऐसी हँसी आयेगी जिससे जगत् मतवाला हो जायगा।

३१

हाथ की पाँचों अंगुलियाँ पाँच किस्म की होने पर भी, तथा शरीर का प्रत्येक अंग उत्कृष्ट काम से लेकर निकृष्ट काम करने पर भी, अपने दाँतों से अपनी जीभ काटने पर जैसे सारा शरीर अपना जानकर सब कुछ सहनकर यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करते हो, वैसे ही सीमा के भीतर सबके साथ उसी तरह व्यवहार

करने की चेष्टा करो । इस प्रकार के अभ्यास के फल से संसार के सभी अपने हैं, अनुभव करने लगोगे । “मैं” और “तुम” इस पार्थक्य को दूर करना ही साधन-भजन का एक मात्र उद्देश्य है ।

३२

क्रमशः बाहरी मुलाकात (भेंट) वातचीत कम कर दो; ऐसा न होने पर उस (ईश्वर) के पाने के मार्ग में व्याघात होगा । हृदय आसन में उसे बिठाकर, नेत्र और कानों की यदि बहिर्गति रखो तो उसकी सत्ता किस प्रकार उपलब्ध करोगे ? मानसिक उपासना ही उपासना है । बाहरी पूजा तो इसका अंशमात्र है । रुग्ण शिशु के पालन करने में माँ जिस तरह उसे छाती से लगाये रखता है, साधन की प्रथम अवस्था में देवता को उसी प्रकार रुग्ण शिशु की तरह छाती से लगाकर बैठे रहना चाहिये । उपासना के समय यदि बाहरी कर्म-भावना का परित्याग कर मन स्थिर न किया जा सके तो देवता को प्राणमय रूप में नहीं पा सकोगे । टेलीफोन में वात सुनते समय जैसे सब शक्ति

श्रवणेन्द्रिय में लगाते हो भगवत्तचिन्ता में भी उसी प्रकार सब इन्द्रियों की शक्ति द्वारा चित्तशक्ति की सहायता करनी चाहिये ।

३३

मनुष्य ईश्वर का प्रतिरूप है । मनुष्य योनि सब योनियों में श्रेष्ठ है । मनुष्य के मनोराज्य में ऐसी सब गुप्त सम्पदायें निहित हैं जो कि संसार में कहीं नहीं हैं । दुबकी लगाने वालों की भाँति अपने अन्तर की गहराई में ढूबकर निशिदिन उन सब रत्नों के उद्धार की चेष्टा करो । आन्तरिक ज्वलदग्नि को जलाकर जीवन और जगत् को आलोकित करो । यही परम पुरुषार्थ है ।

३४

“भाषा” का अर्थ है बहते रहना (‘भेसे थाका’) मनुष्य बहता न रहे तो भाषा नहीं निकलती । जब तक ढूबे रहोगे, बात करने का कोई अवसर नहीं है । जैसे ही ढूबकर उने त्यों ही भाषा का प्रकाश आरंभ हुआ । इसी कारण भाषा सब समय भाव का पूर्ण रूप से प्रकाश

नहीं कर सकती। तुम्हारे भीतर कोई-कोई कहता है “अपने मन का भाव आपको नहीं समझ सकता हूँ” तब देखो, तुम्हारी भाषा कितनी अस्पष्ट और अपूर्ण है। जितना तुम स्वयं समझ सकते हो, उसे भी व्यक्त नहीं कर सकते। इसके ऊपर नहीं समझते ऐसे तो कितने विषय हैं। हृदय का गुप्त भाषा-विज्ञान जानने और समझने की चेष्टा करो। बिना भाषा के सब कार्य सुसम्पन्न होंगे।

३५

जिस तरफ देखा जाता है उधर ही एक अखण्ड सत्ता की नित्यता सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। किन्तु उस सत्ता का ज्ञान सहज ही में नहीं मिलता है। इसका क्या कारण है? वे सबके भीतर ओत-प्रोत हैं। जैसे राजशक्ति के द्वारा राजा का परिचय मालूम होता है, अथवा ताप के द्वारा अग्नि का परिचय होता है, उसी प्रकार यह व्यक्त जगत् उस अव्यक्त का परिचय देता है। सृष्टि वस्तु का विश्लेषण करते-करते देखा जाता है कि जो अवशिष्ट रहता है वही सर्वभूतों में समभाव से अवस्थित है एवं यह वही हैं जिसे कि चेतना कहते

हैं। तुम्हारे कालेज अस्पताल और कितनी ही जगह कितने ही प्रकार की परीक्षा हो रही है, नवीन तत्त्वों का आविष्कार हो रहा है, यह यदि ध्यानपूर्वक देखो तो उसमें भी यही निर्दर्शन पाओगे। संसार की विचित्रता के भीतर से सब कर्म, जगत् पिता के एकनिष्ठ रूप में सम्पादन करने की चेष्टा करते-करते उसके प्रति प्रेम और अनुराग जाग्रत होता है। इस प्रकार अहं (मैं) का संकीर्ण बन्धन जितना तोड़ सको, उतना ही विराट् की ओर मन-प्राण एक लक्ष्य से धावित होता जायेगा। तब नाना चित्र एक ही चित्र में परिणत हो जायेंगे एवं एक ही रस-सागर में मिल जायेंगे।

३६

शून्य होने से श्वेत हो सकते हो अथवा सबके भीतर लय होने से भी श्वेत हो सकते हो। श्वेत सब रूपों को धारण कर अरूप है, अथवा अरूप का रूप ही श्वेत है। श्वेत होने के लिये सीधा रहना पड़ता है। सत्य और सरलता के आश्रय से बाहर भीतर दूध की भाँति श्वेत होने की चेष्टा करोगे तो स्वयं तो सुखी रहोगे

ही, दूसरे भी तुम्हारे पास आकर सुख पायेंगे । त्यागी होना ही श्वेत व सरल होने का लच्छण है । आत्माभिमान को शून्य कर संसार में अपने को मिला दो, देखना तुम्हारी शून्यता को पूर्ण करने के लिये सब व्यस्त होंगे एवं तुम्हारा आदर्श कर्म और धर्म सर्वत्र मंगल विधान करेगा । इस भोग-विलास के दिनों में पवित्र त्याग और सरलता ही मनुष्य का विशेष प्रयोजन है । वास्तव में पूर्ण त्याग का नाम हो पूर्ण भोग है ।

३७

झरने (जल-स्रोत) की तरह सर्वदा एक-मुखी होकर बहते रहने से किसी प्रकार का मैल तुम्हारे भीतर नहीं रह सकता, दूसरे का मैल भी तुम्हारे संसर्ग से परिष्कार हो जायगा । अग्नि यद्यपि जोरों से शिखा लेकर ऊपर तो उठती है, किन्तु उसकी भी एक सीमा है; जहाँ शिखा अपने स्वरूप या अहंकार में स्थित नहीं रख सकती, वहाँ वह बाष्पाकार में परिणत हो जाती है । किन्तु जल की अविराम गति का ऐसा प्रवाह रहता है कि नद-नदी कितने ही पेड़ और पत्थरों को बहाकर हजारों

कोस अविरोध पाकर गन्तव्य-स्थान में पहुँच जाती है। यदि परमतत्त्व का सन्धान व सम्मलन लाभ करना चाहो तो नदी की तरह एक लक्ष्य लेकर चलते रहो।

३८

संसार में प्रत्येक जीव से कुछ न कुछ शिक्षा ली जा सकती है। इस कारण हरएक दूसरे का गुरु है। किन्तु उनमें से वही श्रेष्ठ है जो परम गुरु परमेश्वर का सन्धान बतावे। सत्त्वचिन्ता और सत्संग के संयोग से जब भगवान् के लिये किसी का मन उन्मुख होता है, तब उसके पास वे ही गुरु रूप में किसी न किसी मूर्ति में प्रकट होते हैं। गुरु के चरणों में शरणागति द्वारा जो गुरु को गुरु भाव से देखता है, वही प्रकृत शिष्य है। शिष्य सेवापरायण होकर सर्वदा गुरु की आज्ञा का पालन करे। न त मस्तक पर ही आशीर्वाद व करुणाराशि की वर्षा होती है। जो जितना एकाग्र और न त हो सकता है, वह उतना ही उन्नत होने की शक्ति अर्जन करता है। पुत्र का नाम आत्मज है, किन्तु पारमार्थिक

भाव लेकर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध दृढ़ होने से शिष्य को ही वास्तविक आत्मज कहा जा सकता है।

३९

‘निधिराम’ सर्दार होने के लिये ढाल-तलवार के साथ साथ शक्ति की भी आवश्यकता है। तुम जो स्वराज-स्वराज कहते हो, पहले अपने को तैयार करो, उसके बाद तो स्वराज पाओगे? नैतिक-जीवन को आधारकर धर्म जीवन गठित करो; कर्म जगत् में उसे अग्रगण्य करो। इस प्रकार महाशक्ति संचित होने से तुम्हारी स्वाधीनता में कौन हाथ दे सकता है? अपने ऊपर स्वयं शासन नहीं कर सकते तो विराट् परतन्त्र किस तरह चलाओगे? अपने मन के राजा हो सकने पर विश्व का राज्य स्वयं ही हाथ में आएगा। धर्मके ऊपर ही संसार का सत्य प्रतिष्ठित है और धर्म ही संसार का जीवन है।

४०

जो डाक्टरी पढ़ते हैं उन्हें जैसे शिक्षा से आरम्भ में ही हड्डी, चर्म, मांस एवं शरीर के भिन्न-भिन्न यन्त्र

की तस्वीरों को देखना पड़ता है, वैसे धर्म के प्रथम ज्ञान लाभ के लिये नियमित अनुष्ठानों की आवश्यकता है। साधारणतया बहिरानुष्ठानादि के द्वारा शरीर और मन प्रस्तुत होने पर अन्तर में अन्तर्यामी का सन्धान करने में सुविधा होती है।

यदि अन्तर जानना हो तो बाहर को छोड़ने से काम न चलेगा, इसीलिये उन्होंने संसार के चित्र में भीतर (अन्तर) की छवि अंकित कर रखी है। इस जगत् को जाग्रत का आभास भी कहा जाता है। जगत् के क्षणिक आनन्द में मुग्ध न होकर अन्तर्यामी की शरण लेने की चेष्टा करो।

४१

बहुत से कहते हैं “कीर्तन की चिल्लाहट अच्छी नहीं लगती अतएव एकान्त में बैठकर उसका भजन करूँ” असली बात यह है कि यदि निर्जन में बैठकर उसका सन्धान पाओ तो बड़ी ही अच्छी बात है, किन्तु मन की गति को देखो कि वह उस समय क्यों उसको

दूँढ़ता है कि संसार के धन्धों में धूमता फिरता है ? कीर्तन के कोलाहल में ध्यान न देकर यदि नाम की ओर लक्ष्य रखो; खोल करताल के नाना सुरों के प्रति ध्यान न देकर, धुन (ध्वनि) या शेष आवाज का यदि अनुसरण करो तो देखना सहज ही में भाव जाग्रत होगा । साधारण लोगोंका सूक्ष्म तत्त्व के लिये स्थूल संग की बहुत आवश्यकता है । बन्धु-बान्धवों को लेकर सर्वदा कीर्तन, करना । इनकी सुविधा न होने पर जहाँ कीर्तन हो, वहाँ जाना । नाम स्मरण करते-करते कीर्तन का भाव आता है और कीर्तन करते-करते जप, ध्यान और धारणा आती है । पूजा अर्चना में जैसे निष्ठा को लेकर कर्मादि का विधान है, कीर्तन भी उसी प्रकार करना आवश्यक है । एक सुर, एक ताल होना ही अच्छा है । जिसके लिये कीर्तन करते हो, उसको स्मरण रखना, नहीं तो वाद्योत्सव होगा, नाम-कीर्तन नहीं ।

४२

कोई किसी को नहीं देखता, सबको एकजन (ईश्वर) केवल देखते हैं । बड़े पर्वत के पार्श्व में खड़े

होकर पत्थर, मिट्टी, पेड़, लतादि देखोगे जो कि एक-एक को इस तरह जकड़े हुए हैं कि मानों एक के गिरने से सब गिर जायेंगे । किन्तु क्या ऐसा होता है ? जिस पर्वत के शरीर में वे लगे हुए हैं, वही उनको पकड़े हुए हैं । भूकम्प या अन्य किसी देवोत्पात से यदि पर्वत एक बार शरीर हिलाये तो कुछ भी स्थिर न रहेगा । उसी प्रकार यद्यपि तुम सोचो कि संसार, समाज और सभ्यता इत्यादि के गठन में तुम्हीं संसार की रक्षा कर रहे हो, किन्तु मूलतः वही रक्षाकर्ता है, इसलिये उसको जानना आवश्यक है, उसको जानने से सब ज्ञात होता है एवं अभाव का छन्द दूर होता है ।

४३

“शक्ति दो”, “शक्ति दो”, कहकर चिल्लानेसे शक्ति लाभ नहीं होती । अस्पताल में रोगियों को आनन्द और आराम देने के लिये कितने ही प्रकार की सुव्यवस्था होती है, इतना होने पर भी क्या भीतरी रोग को ज्वाला को बाहरी व्यवस्था कभी दूर कर सकती है ? भीतर की

व्यवस्था चाहिये और वह प्रत्येक की अपनी चेष्टा के ऊपर ही निर्भर करती है; शास्त्र और साधु-वाक्यों को मन में धारण कर कार्य किए जाओ, समय आने पर तुम्हारे भीतर से ही शक्ति दिखाई देगी। जिनमें कर्तव्य वृद्धि और दृढ़ संकल्प नहीं है, वही अन्यों के निकट शक्ति ढूँढ़ते फिरते हैं। यदि सांसारिक सब कार्यों को 'अहं' कहकर चला सकते हो तो क्या भगवत्-चिन्ता के लिए ही शक्ति चाहिये? धैर्य और विश्वास को लेकर सब कार्यों में मन लगाओ, शक्ति स्वयं उदय होगी। और यदि कहो कि काम नहीं कर सकते तो वताओं क्यों नहीं कर सकते। उस आन्तरिक दोष को अनुसन्धान करके दृढ़ मन से उसका उच्छेद करो। नहीं तो तुम अपने भीतर का निरर्थक बोझ बढ़ाए रहोगे और आशा करोगे कि बाहरी-शक्ति आकर तुम्हें खींच ले जायेगी। क्या कभी ऐसा सम्भव हुआ है? टेढ़े-मेढ़े रास्ते में गाड़ी के पहिए को घुमाने में जैसे घोड़े व इञ्जन पर जोर देना पड़ता है, उसी तरह विषयासक्त मन को भी संकल्प के द्वारा जोर देकर धार्मिक-कार्य में लगाना चाहिये।

४४

जिसका भजन करना चाहते हो, सबसे पहले उससे परिचय होना आवश्यक है। हमेशा उसके विषय में बातचीत, चिन्ता, उसकी छबि (तस्वीर या चित्र) देखना, उसके गुण गान और श्रवण, तीर्थादि भ्रमण, एकान्त में वास, साधु-संग इत्यादि द्वारा वे परिचित होते हैं, परिचय हो जाने पर उसे चाहे पिता कहो या माँ जो कोई एक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है, क्योंकि संसारी लोग बिना सम्बन्ध के बन्धन में नहीं बँधते। तुम संसार के काम में शृंखला को लेकर चलते हो, इसीलिये धर्म-क्षेत्र में भी किसी किस्म का बन्धन लेकर चलना जरूरी है। पहले भाव वैसा न जगे तो नित्यनिर्दिष्ट जपादि द्वारा उसका भजन करना सीखो। वे क्रमशः तुम्हारे हृदय में विराजमान हो जाएँगे। प्रेम बन्धन में आवद्ध हो जाने पर भी उसे ठीक रखने के लिये उपासना, दान, ध्यान इत्यादि प्रयोजन है। इससे सब समय उसकी स्मृति आत्म-सत्ता की भाँति लगी रहेगी एवं मृत्युके अर्न्तम समय तक उसकी मृति तुम्हें छोड़कर न जाएगी इसी का नाम भगवत्-प्रीसि है।

४५

जब कोई कहता है कि “मेरे बिना मेरा संसार (गृहस्थी) कैसे चलेगा।” तब समझना चाहिये कि उसका संसार (गृहस्थी) के प्रति आकर्षण अभी भी कम नहीं हुआ है। वास्तव में कोई किसी के भगोसे में नहीं रहता जब तक कोई किसी के पास रहता है तो सुविधा है और पास न रहने से उसका काम ही न चलता हो ऐसी बात नहीं हैं। ऐसी अवस्था में झूठ मूठ दूसरे की दुहाई न देकर आत्म-विचार द्वारा अपनी दुर्बलता को खोज कर आत्म-शक्ति लाभ करने की चेष्टा करना आवश्यक है। शोकताप किसी को अच्छा नहीं लगता, तब भी इससे किस प्रकार मुक्ति पाई जा सकती है इस सम्बन्ध में चिन्ता भी नहीं करते। जीवन को जैसे-तैसे बिता देते हैं परिवार एक बोझ सा जानकर बहुत से लोग संसार (गृहस्थी) नहीं बसाते, किन्तु इसी से उनके मन की तृप्ति ही जाती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अपूर्ण जगत् में पूर्ण शांति की वस्तु कुछ नहीं है इसी कारण से संसार यात्रा के भीतर भी उसका आश्रय ही एक मात्र काम्य लोभनीय एवं परम और चरम उद्देश्य होना चाहिये।

४६

आना और जाना रहने से ही, सामने और पीछे होता है। जहाँ जन्म का आनन्द है, वहाँ मृत्यु के लिये शोकाश्रु बहेंगे, उनके लिये प्रस्तुत रहना आवश्यक है। उसे मरना होगा, यह नित्य-सत्य है। आवागमन-समाप्त करना हो तो एक मात्र भगवान् की समीपता लाभ करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है, साधन के बल से चित्त शुद्ध और तन्मय न होने से उनके शान्ति राज्य में प्रवेश नहीं किया जा सकता। उत्तराखड़ की तरह उस राज्य का पथ अति दुर्गम है। किन्तु देव-दर्शन की प्रबल आकांक्षा लेकर कितने ही चलने के शक्ति-रहित वृद्ध, वृद्धा उस तंग रास्ते के कष्ट को तुच्छ मानते हुए और कई दिनों तक अनाहार, अनिन्द्रा और शीत का भाँति सहकर धाम-यात्रा को परम लक्ष्य बनाते हैं उसी कष्ट आग्रह और धैर्यके साथ आत्मदर्शन चेष्टा का प्रयोजन है।

४७

प्रवाह की तरह जब जो कुछ सामने आता जाय ऐश्वरिक भाव से अत्यन्त आनन्द के साथ उसे निभाते

जाना । जगत् में सब कुछ इच्छाशक्ति का फल है । जो दृढ़ता और धैर्य के साथ किसी सदिच्छा की प्राण-प्रतिष्ठा कर सकता है, उसी का कमं-चैतन्य होता है । कर्मीगण ही देश-शक्ति के अधिकारी हैं । एक वृत्ति का अनुसरण करते हुए सर्वदा भगवत्-चिन्ता का अभ्यास करना । सद्वृत्ति का अनुसरण करते-करते, वह अभ्यास स्वभाव में परिणत हो जाने पर चितपट में और बाहरी वत्तियाँ आकर विक्षेप नहीं उत्पन्न करेंगी । कर्त्तव्य-कर्म में जड़ता असावधानता आने पर उसका प्रतिरोध करनेका अभ्यास ही एक मात्र उपाय है, क्योंकि मनुष्य अभ्यास का दास है । यह जो वृहत् संसार-धर्म में सभी व्यस्त है, यह भी अभ्यास और पूर्व जन्मों की संस्कारगत आसक्ति है । अभ्यास करने में समय लगने पर भी हताश न होकर दृढ़ता और उत्साह के साथ अपने को जमाये रखना ही कर्त्तव्य है । यह सत्य है कि दैनिक कुछ न कुछ धर्म-चिन्ता द्वारा समय आने पर ईश्वर लाभ का प्रबल आग्रह हृदय में उदय होता है । सरल और शुद्ध भाव का अभ्यास आत्म-ज्ञान की प्रथम सीढ़ी है ।

बनाना और विगाड़ना काल की गति है, जो काल के ऊपर महाकाल होकर बैठे हुए हैं, वे अखण्ड रूप में पूर्ण हैं और खण्ड रूप में भी पूर्ण हैं। इसी कारण से उसका बनाना-विगाड़ना सर्वत्र समान है, एवं इसी समदर्शिता के लिये वे मङ्गलमय हैं, और सुखी दुःखी सबके लिए प्रार्थनीय हैं। न बनाने से टूटता नहीं एवं न टूटने से बनता नहीं। अतएव संसार-चक्र में बनाना अनिवार्य है, कैदी की तरह सीमा के अन्दर रहने से हम संकीर्ण और सीमाबद्ध हो गये हैं, इसलिये “मैं” और “मेरा” इन दो बातों के बाहर नहीं जा सकते। पुत्र लाभ होने पर हम हँसते हैं और पुत्र खोने पर रोते हैं। रक्त-मांस के द्वन्द्व को भूलकर थोड़ी देर विचार करने पर मालूम होता है कि कोई किसी का नहीं है ! कौन किसका पिता है ! अथवा पिता और पुत्र आदि, कुछ नहीं है, वे ही एक मात्र सब भावों में सर्वत्र मूर्तिमान् हैं।

४९

किसी से यदि कोई चीज लेनी हो तो जितनी आवश्यकता हो उतना ही लेना एवं दूसरे को देते समय भी जितना पाकर वह सन्तुष्ट हो जाय यथाशक्ति उतना ही देना। संकुचित चित्त को वृहत् करके स्वार्थ और परार्थ का अभेद ज्ञान उत्पन्न करने के उद्देश्य से परोपकार, दान, दया इत्यादि द्वारा यथासाध्य सेवा करना। जब तक अपनी भोग-वृद्धि अभाव का बोझ है, तब तक दूसरों के अभाव को देखना चाहिये। ऐसा न होने से मनुष्यत्व लाभ नहीं होता। सुयोग मिलने पर दीन दुःखी को कुछ देना, भूखे को खिलाना, रोगी की सेवा करना; और यदि कुछ न कर सके तो मन ही मन में दूसरों की हित-चिन्ता करना, देह को छोड़कर आत्मा की ओर लक्ष्य रखकर सेवा धर्म के अनुशीलन की चेष्टा करना। इससे प्रत्यक्ष देख सकोगे कि सेवा, सेव्य और सेवक—उसी के भिन्न-भिन्न प्रकाश मात्र है। सेवा के मूल में त्याग है, जहाँ आत्मसुखेच्छा भोगाशा एवं फलाकांक्षा है, वहाँ प्राकृत (वास्तविक)

सेवा नहीं होती। भगवत्-सेवा के लिये उपरोक्त तीनों इच्छाएं परित्याग करना आवश्यक है। शरीर, मन और वाक्य के द्वारा ही त्रिविध सेवा होती है। जिस किसी भी एक का अभ्यास आरम्भ करने से समय आने पर काय-मनो-वाक्य—इन तीनों के संयोग से आत्म-समर्पण रूप सागर-संगम में पहुँचा जा सकता है।

५०

जिससे “श्वास” विगत हो चुका है अर्थात् संशय दूर होकर प्राण में दृढ़ता का भाव जाग्रत हुआ है, वही विश्वास है। इसका नित्य सम्बन्ध श्रद्धा और सत्य से है। जो विश्वास दूसरे के मतामत के या कार्य कारण के ऊपर निर्भर कर चलता है, वह केवल व्यावहारिक कर्म के लिये उपयोगी है। “उन” में ध्यान लगाने से प्रकृत विश्वास भीतर से आता है। यह चित को सत्य में स्थिर करता है एवं दिल से निर्भरता का भाव लाकर दुःख में और सुख में समान भाव से एक अनिर्वचनीय शान्ति और वल का सञ्चार करता है।

साधना मात्र ही विश्वास के अधीन जानकर विश्वास की साधना ही प्रथम आवश्यक है। क्योंकि अदृष्ट और अनिर्देश्य वस्तु का सन्धान, श्रद्धा और विश्वास की सहायता से आरम्भ न करने से, परमत्त्व के अनुसन्धान के लिए अन्य कोई उपाय नहीं है।

जो महत्त्वादि सर्वगुणालंकृत हैं, पूर्ण और पवित्र हैं, वही आदर्श है; इस हिसाब से आदर्श एकमात्र परमेश्वर है। किन्तु जीवन के कर्म-क्षेत्र और धर्म-क्षेत्र में प्रत्येक मनुष्य के उपयोगी किसी साधु के आदर्श का लेकर चलना उचित है। जीवन्त-आदर्श का मन पर जैसा असर पड़ता है, वैसा शास्त्रोपदेशादि द्वारा नहीं पड़ता एवं प्रत्यक्ष दर्शन से जैसी कर्म-प्रेरणा आती है, अप्रत्यक्ष व अनुमान से वैसा नहीं होता। पहले निश्चय करना होता है कि मैं किस पथ का पथिक होऊँ, उसके बाद वैसा आदर्श लेकर चलना चाहिये। यदि सौभाग्य से उस पथ में किसी महात्मा का संग या साक्षात् लाभ हो जाय तो वैराग्य और श्रद्धा के साथ उसकी

सेवा करके, उसकी कृपा से और सानुकूल्य से आत्मो-
त्कर्ष की चेष्टा करना आवश्यक है। मूल आदर्श व भग-
वान् को सम्मुख रखकर साधु-सज्जनों के उपदेशादि
ग्रहण करने से कृतकार्य होना सहज हो जाता है।

५२

शान्ति सब ही ढूँढ़ते हैं, किन्तु यह बात बहुत कम
लोग सोचते हैं कि जब तक “वह” हृदय में न जागे
तब तक पूर्ण शान्ति किसी तरह नहीं मिल सकती है।
धन से शान्ति नहीं मिलती, पुत्र-परिजनों से शान्ति
नहीं होती, प्रतिष्ठा प्राप्त होने से शान्ति नहीं मिलती।
कारण यह है कि सांसारिक भोग मात्र ही दिन रात
की भाँति परिवतंनशील हैं, आते-आते ही चले जाते हैं,
इसलिये ऐसे धन का धनी होना आवश्यक है, जिसका
फिर क्षय न हो और जिसके पाने से सब आकाक्षाएँ
एकदम मिट जायें। वह धन एकमात्र भगवान् हैं, जो
सबके हृदय में रहते हुए भी अपरिचित हैं। सत्कर्मादि
के द्वारा चित्त का अन्धकार दूर होने पर परम सुन्दर

का मोहन रूप अपने आप ही विकसित हो जाता है और चित्त में पूर्ण शान्ति का राज्य आरम्भ होता है।

५३

बच्चों को खेलते देखा है न ? पहिले तो बहुत आनन्द से खूब हल्ला मचाकर खेल आरम्भ करते हैं। गले लगते हैं और कितना प्रेम आपस में करते हैं ! किंतु खेल समाप्त होते न होते ही हार जीत के झगड़े में पड़कर, एक दूसरे को बुरा-भला कहते हैं, फिर हाथापाई और अन्त में मारपीट करके रोते-रोते अपने घरों को चले जाते हैं। जो संसारी हैं, उनकी अवस्था इसी तरह की है। जैसे ही दो चार पैसे की आमदनी शुरू हुई, वैसे ही घरबार बनाने में, खाने-पीने में, आत्मीय स्वजनों के साथ मेल-मिलाप इत्यादि में कई एक दिन खूब आनन्द से कटते हैं, उसके बाद क्रमशः आयु क्षीण होने के साथ-साथ कर्म-चक्र में फँसकर शोक-ताप की ताढ़ना से मन-प्राण इतना अस्थिर हो जाता है कि फिर दिन बिताना कठिन जान पड़ता है। किन्तु जो

भगवत् चरणों का आश्रय लेकर संसार करते हैं, उनका जीवन, सैकड़ों अभाव-अभियोगों के होते हुए भी शान्त-पूर्ण होता है। जब संसार नित्य गतिशील है तो सुख-दुःख नित्यक्रिया की भाँति मनुष्य के साथ साथ ही रहेगा।

५४

जैसे स्नेह और ममता से, माता का परिचय मिलता है, पत्नी का प्रेम और अनुराग से, मित्र का प्रीति और आत्मीयता से, वैसे ही धार्मिक का परिचय उसके धर्मचरण से मिलता है। “धर्म मानता हूँ” केवल यह कहने में कोई लाभ नहीं है। भाव से और कार्य से धर्म का अनुसरण करना होगा। व्रत, उपवास, जागरण या इनके अनुरूप कष्टकर साधनों के द्वारा कर्म के ऊपर निर्भर करके तो चला, किन्तु भाव को यदि अभाव हो तो उसके केवल कर्म के संस्कारों का निभाना मात्र ही होता है। अपने अन्तर को अच्छी तरह देखो, जहाँ कोई त्रुटि दिखाई पड़े उसे हटाने का प्रयत्न करो। इस तरह जिस स्थिति में हो, तदुपयोगी कर्म करते हुए धीरे-धीरे

आगे बढ़ो । इससे, समय आने पर कर्म और भाव के संयोग होने से, यथार्थरूप से धर्मलाभ करने में समर्थ हो जाओगे ।

५५

जीभ में रस स्वाभाविक है, किन्तु जबतक यह कोई कड़वी या मीठी वस्तु के संस्पर्श में नहीं आती है, तब तक यह नीरस है । फिर और आश्चर्य की बात है कि कड़वा-खट्टा-मीठा जब जो कुछ इसके ऊपर रखें; उस समय इसका वैसा ही स्वाद बन जाता है । इसी तरह जो यह देह देखते हो, इसमें नहीं हैं ऐसी कोई वस्तु नहीं । इसे (देह को) एक ब्रह्माण्ड कहा जा सकता है । जिस तरह इसे रखना चाहते हो, उसी तरह ये रहेगी । यदि संसारी भाव चाहो तो देखना तुम्हें संसार में कैसा हैरान कर छोड़ती है; और यदि धर्म-भाव से इसे भावित करो तो देखना तुम्हें शान्त और स्थिर बना देगी । देह का मूल्य है और नहीं भी है । देखो न, जब

तक नदी के इस पार हो तब तक ही उस पार जाने के लिए नौका से प्रेम रहता है; जैसे ही उस पार चले गये फिर तो उसका ध्यान भी नहीं आता है। देह की सार्थकता भी उसी प्रकार है। जब 'अहं' (मैं) का लोप हो जाएगा तब संसार के साथ-साथ देह भी हृष्टि की ओट में पड़ी रहेगी।

५६

सब विषयों का एक केन्द्र ठीक रखना चाहिये। ऐसा न करने से कोई भी भाव ठीक तरह से जम नहीं पाता। जिसका चित्त जितना केन्द्रस्थ हो रहा है, वह उतना ही सरल, शान्त, स्वस्थ और प्रेममय होकर विराट् का आभास पाता है। अक्षर, मूर्ति, तस्वीर, चिह्न या कोई भी शुद्ध वस्तु को अनन्त का प्रतीक (अंग वा रूपवाचक) मानकर उस पर सुख में दुःख में चिन्ता की धारा अविश्वान्त लगाये रखें, इससे मन बारबार इधर-उधर जाने पर भी पुनः वहीं आकर विश्राम करेगा, और क्रमशः भाव जाग्रत होने पर हृदय में उसको सुप्रतिष्ठित कर लेगा। केवल 'अहं'

शक्ति से 'सोऽहं' सत्ता को पहुँचना, अथवा योगादि द्वारा परमात्मा की अनुभूतिलाभ करना, वर्तमान युग में साधारण लोगों के लिये कष्टसाध्य है।

५७

बैठे-बैठे अन्धकार में क्या टटोलते हो ? प्रकाश का सन्धान करो; प्रकाश का सन्धान करो । तेल की बत्ती (लालटेन आदि) या विजली की बत्ती से कितने दिन और प्रकाश रख सकोगे ? तेल समाप्त होने पर या स्वच खराब हो जाने पर बत्ती अवश्य ही बुझेगी । ऐसे आलोक को लेकर संसार को आलोकित करो जो कभी न बुझे । वह आलोक (प्रकाश) क्या है ? जानते हो ? वह है भगवत्-निष्ठा व भगवत्-प्रेम । घर-घर में इस आलोक का सन्धान पहुंचा दो, देखना सबके भीतर बाहर आलोकित हो जायेगा । एक बार स्मरण रखना कि वर्तमान समय में यदि काम करना हो तो गृहलक्ष्मियों से आश्रय-भिक्षा माँगनी पड़ेगी क्योंकि जैसा समय आया है, उसमें, स्त्रियाँ ही समाज की कर्णधार होंगी और पुरुष पतवार पकड़कर बाहर

घूमेगा। लड़कों के साथ-साथ लड़कियों को भी नाम कीर्तन सिखाना होगा, गीता-भागवत पढ़ानी होगी, जप और ध्यान-धारणा में मन लगाना होगा। सत्संग और साधुसंग करना होगा, इससे देखोगे कि स्त्री-पुरुष दोनों ही उन्नति की ओर जा रहे हैं। इसी प्रकार प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य नाम का जो प्रथम आश्रम था उसका यदि पुनर्गठन किया जाय तो हिन्दूसमाज पुनः जाग्रत हो जाएगा।

५८

संन्यासी उसे कहते हैं जिसका सर्वदा शून्य में निवास हो, और जो सर्वदा दूसरों पर निर्भर करता हो, वह तो संन्यासी होने की चेष्टा मात्र कर रहा है। उस (ईश्वर) के नाम पर जिसका सब शून्य में विलीन हो गया है वही संन्यास है। जब तक घर-द्वार, रूपया पैसा, शारीरिक आराम, मानसिक, भोगवासना प्रतिष्ठा प्रशंसा इत्यादि के लिये आग्रह रहे तब तक घर में रहना ही नितान्त उचित है। इस पथ के पथिक एक तो ऐसे ही कम हैं। जो संन्यास के उद्देश्य से निकलते

हैं वे यदि सब तरह से निःस्वार्थ होकर न चलें अथवा निर्धारित नियमों का आचरण न करें तो नाना प्रकार की विशृङ्खलताएं उत्पन्न हो जाती हैं। संन्यासी का भाव लेकर गृहस्थ होना जितना प्रशंसनीय है, यथार्थ संन्यासी न होकर केवल संन्यासी का भेष धारण कर निकलना उससे कहीं अधिक अपराध का विषय है। इससे वे केवल अपनी ही क्षति करते हों ऐसा नहीं; साथ ही साथ संन्यासाश्रम के पवित्र आदर्श को भछोटा बनाते हैं।

५९

एकान्त न होने से श्रोकान्त को नहीं पाया जाता। नीरव और निर्लिपि भाव से, जो परम-पुरुष की साधना करना चाहते हैं, उनके लिये हिमालय बड़ा ही अनुकूल स्थान है। चारों ओर प्रकृति गुरु-गम्भीर और शान्त-शील है। इसकी गोद में बैठकर अनन्त की चिन्ता व आत्म-विचार स्वभावः ही सहज होता है। जिसकी साधना, भाव को लक्ष्य बनाती हो, उसके लिये समुद्र-तीर उपयोगी है। तरंग-तरंग में भावों की हिलोलें

आकर भावमय के सीमातीत भाव में उसे डुबोकर उनको स्थिर लक्ष्य तक पहुँचा देंगी। जिसका केवल मन साधना-पथ का पथिक होने के लिये उत्सुक है, उसके लिए कोई निभृत रमणीय स्थान उपयुक्त है। साधारण गृहधर्मियों के पास ईश्वर चिन्तन के लिये कम से कम घर का एक निर्दिष्ट शुद्ध कोना होना आवश्यक है। जो भगवत् प्रेम में सर्वत्यागी है, जिसके नेत्रों में भगवान् सर्वमय हैं उसके लिये स्थान सर्वत्र ही सुलभ है। मन को नियमित करके सब अवस्थाओं से ऊपर उठने की चेष्टा करो तो स्थान-अस्थान का द्वन्द्व मिट जाएगा।

६०

शरणागत भक्त होना हो तो भाषा और भाव से 'अहं' का मूलोच्छेदन करके वुद्धि-विचार का एकदम तोड़ देना आवश्यक है। शिशु टट्टी पेशाब करता है, उसे शरीर पर मलता है, उसी पर लोटता है फिर निश्चित भाव से माँ की गोद में आने के लिये हाथ बढ़ाता है; वह अज्ञान है जानकर माँ उसे धो-पोंछकर

सर्वदा हँसी-मुख से गोद में उठा लेती है, यही निः-स्वार्थ स्नेह और प्रेम का विधान है। इस तरह आत्म-हारा और एकान्त साधना का अन्य कोई मन्त्र नहीं है। ऐसा ही होने का प्रयत्न करो तो सहज ही में माँ (जगन्माता) की गोद में जा सकोगे। और यदि बुद्धि की कसौटीपर निर्भर कर चलना चाहो तो तुम्हारा भार तुम्हारे ही ऊपर रहेगा। जीवन में अनेकों बुद्धि के खेल, खेल चुके हो, हार-जीत जो कुछ होनी थी हो गई; अब निराश्रित की भाँति उनपर भरोसा रखकर उनकी गोद में कूद पड़ो। देखना तुम्हें कोई चिन्ता ही नहीं करनी पड़ेगी। याद रखना कि निष्पाप न होने से भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है।

६१

कर्म-जगत् का खेल एक प्रकार का है और भाव-जगत् की लीला एक अन्य प्रकार की है। कर्म-जगत् प्रकाश करने के लिये व्यस्त होता है और भाव-जगत् का खेल नीरवता में और अप्रकाश में होता है। यदि

ऐसा न हो तो भाव की पुष्टि नहीं होती एवं इसी भाव की पुष्टि से ही कर्म-जगत् चलता है। गंगा का उत्पत्तिस्थान लोक-चक्षु के अगोचर गम्भोर अरण्यमें है, फिर भी उसकी स्नेहधारा कितने देशों को हरा-भरा बनाती हुई उनकी श्रीवृद्धि सम्पादन कर रही है; भाव ही संसार की सृष्टि, स्थिति और लय का मूल है। किन्तु जब तक स्वयं ही कर्म-बन्धन का त्याग न हो एवं कर्म के अधीन हो, तब तक कर्म की प्रधानता स्वीकार करना आवश्यक है। जिसकी कर्म में स्पृहा कर्म को छोड़कर उसका श्रेय-लाभ नहीं होता।

६२

जितनी तुम्हारी आयु बढ़ती है, उतना ही तुम संसार के भार से छोटे हो रहे हो। देखते हो न, कोई-कोई महापुरुष प्रकृति या मनुष्य किसी के ऊपर भरोसा न रखकर, विश्व-प्रेम में पूर्ण लिप्त होकर स्वाधीनता की प्रत्यक्ष मूर्ति, स्वच्छन्दभाव से यथा तथा जिस किसी अवस्था में आनन्द से विहार कर रहे हैं। और

तुम संसार दुर्ग के भीतर इतने यत्न से और सुरक्षित रहने पर भी सर्वदा संकुचित और भयभीत हो । एक-दम उठकर बड़े होने की चेष्टा करो । साधु-पुरुषों के प्रभाव को अपने जीवन में प्रयोग करके जगत् की श्रीवृद्धि सम्पादन करो ।

८३

भगवान् और जीव का नित्य विरह अनन्त काल से चला आ रहा है । भगवान् सर्वदा जीव को गोद में लेने के लिये तैयार हैं और जीव अपने कर्म-चक्र में पड़कर उन्हीं में रहकर भी अन्धे की तरह उसको नहीं देखता, न खोजता है । साधन-भजन में अनुरागी होने पर मालूम होता है कि यही विरह या विच्छेद ही मिलन का सेतु है एवं यही आनन्द का द्वार खोल देता है । मिलन की आशा मिलनसे भी सुखकर है एवं जितनी श्रद्धा-भक्ति बढ़ती रहती है, उतना ही इस आशा से उत्फुल्ल होकर व्याकुलता, प्रार्थना इत्यादि पूर्णता को पहुँचाती है । क्या नहीं देखा कि हिमालय में दो पहाड़ों

में दो पक्षी कहाँ-कहाँ कहकर निरन्तर पुकार रहे हैं। एक दूसरे की पुकार सुनता है किन्तु इतनी आसंग प्रीति में भी कोई किसीके पास नहीं आता। पुकार कर ही विच्छेद की सामयिक वेदना का शान्ति प्राप्त करते हैं। विरह या अभाव-बोध नितान्त आवश्यक है। अभाव की ताढ़ना से जिस प्रकार प्रबल वेगसे कर्म-संग्राम आरम्भ होता है, कर्तव्य वृद्धि से वैसा नहीं होता। अभाव को स्मरण रखकर सद्भाव में उसे पूर्ण करने चेष्टा करो। इस तरह सद्वृत्ति की जितनी ही वृद्धि होगी उतना ही उसका विरह तुम्हें अन्य सब कामोंसे विरत करके उसके प्रति शरणगति लायेगी।

६४

‘वे सर्वत्र हैं, फिर उन्हें क्यों पुकारें? वे तो हमसे कुछ नहीं चाहते’—बाल वृद्ध अनेकों के मुँह से प्रायः यह बात सुनने में आती है। जैसे बहुत कोशिश करने पर भूगर्भ स्थित रत्नादि का संधान मिलता है वैसे ही उनके प्रत्येक हृदय में रहने पर भी उपासना एवं तत्त्वा-

लोचना के द्वारा चित्त की मलिनता व अज्ञानता दूर करके उनकी अनुभूति-रूपी कृपा लाभ करने की सामर्थ्य को प्राप्त करना चाहिये । ऊपरका प्रश्न यदि किसी के भीतर उठे तो समझो कि पुकारने के लिये उसके मन में आकांक्षा जग गई है, यद्यपि वह नहीं समझता । तब अच्छी तरह उसको पुकारने के लिए मन को जाग्रत करना चाहिये । पुकारते तो अपने ही लिये हो । दिन-दिन त्रिताप की ज्वाला से जीव जलकर बेचैन हो पड़ता है, तभी उसे पुकारता है, इच्छा से कितने लोग उसे पुकारते हैं ? पहिले-पहिले तो पुकार बहुतों को दुःख ही से निकलती है, भजते-भजते जब उसका थोड़ा सा आभास मिलता है, तब भजन करने में आनन्द आता है । इच्छा से हो, चाहे अनिच्छा से हो, संसार-प्रवाह में चलते-चलते उसे बुलाने की चेष्टा करो तो फिर निरानन्द की ताड़ना से जीवन भयावह न होगा ।

६५

. कभी-कभी तुम्हारे मुँह से मैं एक बहाने की बात सुनती हूँ—“उसकी कृपा न होने से क्या भजन हो

सकता है ?" उसकी कृपा सब समय है तभी तो जीवित हो । तुम धैर्य धारण कर अपनी और लक्ष्य कर देखो तो उसकी कृपा का आभास पाओगे । संसार में नाना स्थानों में नाना वस्तुएँ विखरी पड़ी हैं । इनको एकत्रित करने के लिये कितने किस्म के कल-कारखाने और वैज्ञानिक कौशल की नई-नई व्यवस्था हो रही है । ठीक उसी प्रकार भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए मन प्राण लगाकर देखो तो उसकी कृपा हाथों हाथ पाओगे । वे कर्म के भीतर से हो प्रकाशित होते हैं । केवल शुद्धभाव से कर्म करो । भजन के बल से अपनी जड़ता की ग्रन्थियाँ को तोड़ दो । चन्द्र और सूर्य के प्रकाश की तरह प्रत्यक्ष देखोगे कि वे कैसे सर्वत्र व्याप्त हैं !

६६

दुर्बलता ही मनुष्य का प्रधान पाप है । अकारण ही जिससे देह की शक्ति का अपव्यय न हो, उस ओर ध्यान रखना उचित है । देह का खाद्य है परिमित आहार और विहार और मन का खाद्य शुद्ध भाव और भगवत्-चिन्ता

है। देह और मन के कल-कारखानों को ठीक तरह चलाने से इसके चालक रूपी आत्मा का सन्धान मिलना सहज हो जाता है।

६७

शहर में चौबीस घण्टा जल पहुँचाने के लिये जैसे दिन-रात पानी के इन्जिन (कल) को चलाना आवश्यक है, वैसे ही हृदय को भगवद् रस से पूर्ण करना ही तो अविराम भजन आवश्यक है। तत्त्व विचार जप व ध्यान लेकर रह सको तो बहुत ही अच्छी बात है, यदि न रह सको तो कीर्तन, पूजा, यज्ञ, पाठ, देवदर्शन, साधु-संग, तीर्थभ्रमण और अन्यान्य सत्कार्यादि लेकर लगातार ईश्वर की चिन्ता मन में रखने की चेष्टा करो। उसी की आशा शिरोधार्य कर संसार चला रहे हो, यदि इसी भाव को शुद्ध-रूप से ला सको फिर तो बात ही नहीं है। जो दिन-रात श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ उसका नाम व भाव लेकर चल सकता है, उसी का “अविराम स्मरण” होता है, एवं उसके बाहरी

कार्य—चाभी दिये हुए यन्त्र की गुड़िया के हाथ-पाँव
चलाने की तरह स्वयं ही सहज में निर्वाहि होता है।

६८

भजन किसे कहते हैं, जानते हो। भाव का प्रकाश
ही भजन होता है। वर्तन के मुँह में ढक्कन लगाकर
कोई वस्तु उधालने से देखोगे, एक समय ऐसा आता है
जब धुआँ उठकर ढक्कन को ठेलकर ऊपर उठा देता
है। बिना बल प्रयोग के वह पुनः बन्द नहीं होता।
ठीक इसी तरह नाम जप जब हृदय में तरंगे उठाता
है तो उसे संभाल रखना कठिन होता है। यह जो
उच्छ्वास है, इसी का नाम भाव है। भाव की उत्पत्ति
भीतर होती है, प्रकाश बाहर। भाव पहिले-पहल
सामयिक होने पर भी भजनादि के द्वारा परिषुष्ट होता
है। क्योंकि सबके भीतर महाभाव विद्यमान है। सुयोग
पाने पर वह अपना कार्य करता है, भाव जितना ही
स्थिर होता है साधक उतना ही उपास्य का आभास
पाता है। भावहीन भजन विलायती फूल की भाँति
है, देखने में अति सुन्दर किन्तु प्रायः गन्धहीन। खूब

शोर के साथ कीर्तन हो रहा हो, भीड़ से कीर्तन-गृह खचाखच भरा हो, किन्तु यदि कीर्तनियों का भाव न रहे तो उस कीर्तन में भगवान् का आभास नहीं मिलता। देवता केवल भाव-ग्राही हैं जानकर वाह्य अनुष्ठानादि के साथ जिससे एक-मुखी शुद्ध भाव जड़ित रहे सर्वदा उस ओर सावधान रहना आवश्यक है। अग्नि-कुण्ड में ईंधन डालने से अग्निशिखा ऊपर अवश्य ही उठेगी।

६९

तुम कई बार कहते हो—“अहं ही सर्वनाश का मूल है”, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जो अहं वुद्धि है वही इच्छा-शक्ति और पुरुषार्थ है। अहं जैसे जन्म-मृत्यु का कारण है वैसे ही यह मुक्ति का भी सहायक है। जिस अहं या स्वतन्त्र वुद्धि की स्फूर्ति के द्वारा भगवान् जीव से भिन्न जान पड़ता है, उसे समूल उत्पादन करने के लिये इच्छा-शक्ति का प्रयोग नितांत आवश्यक है। देवता में जिसने स्थिति-लाभ कर ली है, किंवा परम पिता परमेश्वर में जिसका “ममत्व” लय हो गया है। वह देख अथवा महा-भाग्य (निर्याति) के

अधीन रह सकता है; किन्तु जिसका “मैं कर्ता हूँ” यह अभिमान है उसके सब कामों में पुरुषार्थ आवश्यक है। जब तक वृद्धि की परिचालना है, तब तक अहं है, कर्म भी है। निर्भरता या आत्म-विचार के ऊपर दृढ़ता से भरोसा रखकर शुद्ध भाव का उत्कर्ष साधन करो। कर्म रहने से भी अहं का उद्वेग क्रमशः कम होता जाएगा।

७०

यद्यपि भीतर बाहर सब ही जगह सर्वदा रहते ही हैं तथापि भाव और कर्म के द्वारा उनकी स्मृति को बनाये रखने की आवश्यकता है क्योंकि जन्मजन्मान्तर के संस्कारों ने मनुष्य को ऐसा बांध रखा है कि उसके लिए उनका सन्धान मिलना सहज नहीं होता है। अग्नि की गर्मी से जैसे भीगा काष्ठ भी सूखकर अग्नि का स्वरूप धारण करके अग्नि का दृंघन हो जाता है। वैसे ही भगवत्-स्मृति की तीव्रता से विषय-वृत्ति क्रमशः क्षीण होकर हृदय में क्रमशः चिदानन्द का आभास दिखाई देता है। बात यही है कि

धन-जन प्रतिष्ठा की प्राप्ति के उत्साह के साथ-साथ कम से कम उनकी स्मृति भी बनाये रखने की चेष्टा करना । संसार (परिवार) तोड़कर मैं किसी को वन में जाने को नहीं कहती, “सबके लिये सब समय सब मार्ग नहीं होते हैं जो संसार (गृहस्थ) धर्म करना चाहते हैं उन्हें धर्म का संसार करना चाहिये—इस शरीर का (मेरा) तुम्हारे लिये यही कहना है ।” जिस प्रकार अर्थशन्य कोषागार का कोई माहात्म्य नहीं है, उसी प्रकार धर्महीन मनुष्य-जीवन का कोई मूल्य नहीं है ।

७१

“जो होना है वह होगा”, संपूर्ण सत्य है । अपने और दूसरे के जीवन का इतिहास उलट कर देखने से जात होगा कि मनुष्य स्वयं (ही) कितना कर सकता है एवं अलक्ष्य शक्ति के अदृश्य विधान से (ही) कितना संघटित होता है ! यह जगत् उस परम पिता की इच्छा से सुचारू रूप से नियमित है; और ‘वे हमें जिस अवस्था में रखेंगे व लायेंगे, वही हमें स्वीकार करना होगा ।’ इस सिद्धान्त को जितना अपना सकोगे उतना ही निर्भरता का भाव दृढ़ होगा एवं ईश्वरी-शक्ति के प्रति भक्ति और विश्वास से प्रेम-नेत्र उन्मोलित होंगे ।

७२

“सब ही कामों में वे (भगवान्) हैं—” यह बात सुनने में अच्छी लगती है, किन्तु सब काम हम इस तरह कहते हैं कि वह अन्त में इन्द्रिय-तर्पण मात्र हो रह जाता है। देखो न, इसी कारण से हार-जीत में हमारा कितना हँसना और रोना रहता है। जो दूसरे की नौकरी करते हैं, धनी के लाभ और हानि में उनको उतनी चिन्ता नहीं होती। ‘कर्म द्वारा केवल उनकी सेवा हो रही है—‘इस वुद्धि में जो स्थिति लाभ कर सकता है, वह कार्य (कर्तव्य) पूर्ण होने पर फला, फल की ओर फिर मुड़कर नहीं देखता। कर्म के आरम्भ, मध्य और अन्त में उसकी स्मृति नेत्रों के सामने रखना। इससे सब कार्य उन पर अपंग करके निश्चन्त रह सकोगे।

७३

मातृरूपिणी महामाया सृष्टि की आदि है। उनकी जब लीला करने की इच्छा जाग्रत हुई तब उन्होंने अपने को दो भाग कर माँ और मायारूप में जगत् की नाट्यशाला में प्रकाशित किया, फिर बहुत रूपों में

माया के भीतर छिप गई। काल के कुठाराघात से जब किसी जीव का चेतन्य उदय हुआ तो 'माया ही माँ हैं' इस बुद्धि से माँ के सन्धान में प्रवृत्त हुआ। वह माँ की कृपा और साधना के जोर से उनके आदि रूप महामाया का सन्धान लाभ करके कृतार्थ हुआ। यहीं अन्त न हुआ, महामाया का विराटत्व देखकर वह आत्महारा होकर सच्चिदानन्द-सागर में मिल गया। वहीं देखो, संसार में जिसका नाम मोह व माया है, अध्यात्म-पथ में उसी का नाम महामाया है, दोनों की क्रिया प्रकाशतः विभिन्न होने पर भी दोनों मूलतः एक ही हैं। संसार के पथ में खेलों (संसारी होओ), महानन्द पाओगे, छुड़ाने पर भी छोड़ने की इच्छा न होगी। फिर धर्म-पथ में भी, वही देखोगे, महानन्द का हाट वाजार लगा हुआ है। पर पहला क्षणस्थायी और दूसरा नित्य है। दोनों की सार्थकता हैं क्योंकि जो सब खेलों के खेलनेवाले हैं, वे जब जिसकी जो आवश्यकता है, उसको वही देकर तैयार कर लेते हैं एवं क्रमशः अन्तिम लक्ष्य की ओर आकर्षित कर मोह-माया और महामाया का दृन्द्र मिटा देते हैं।

७४

सूर्य-चन्द्र और बाहरी प्रकाश से कितने दिन चला सकोगे ? जब नेत्रों से न देखोगे, जब शरीर न चलेगा, जब बुद्धि विभ्रान्त होगी तब केवल अन्धकार में टटो-लना पड़ेगा । समय रहते भीतर के प्रकाश को प्रज्वलित करने की चेष्टा करो । मन के चूल्हे में आत्म-विचार या नाम-स्मरण की आग जला दो, साधु-संगति, प्रार्थना-उपासनादि की हवा देकर उस अग्नि को सतेज रखो । क्रमशः इसकी ज्योति स्थिर हो जाएगी । तब उस प्रकाश से बाहर-भीतर प्रकाशित ही आत्मदर्शन का पथ सुगम हो जायेगा ।

७५

कारण में आत्म-प्रयोग करने का नाम ही कर्म है, कर्त्ता के अवश्य करने योग्य कर्म को कर्तव्य-कर्म कहा जाता है, किसका कर्तव्य कर्म कैसा है यह ही सोचने का विषय है । मांसारिक जीवन में संसार (गृहस्थी) रक्षा ही कर्म है, किन्तु यदि किसी को प्रबल आत्मिक व जागतिक महत् उद्देश्य सिद्धि के प्रयोजन में परिजन

को छोड़कर जाना हो तब वही उसका कर्तव्य कर्म निर्धारित होता है। इस कारण कर्तव्य कर्म के लिये कोई कसौटी नहीं है, अवस्था, देश-काल-पात्र उसे निर्दिष्ट करते हैं। ईश्वर-चिन्ता ही सभी जीवों का प्रधान कर्तव्य है यह प्रायः सभी भूल गये हैं। प्राचीन हिन्दू समाज चार आश्रमों में विभक्त था—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। आजकल गार्हस्थ्य आश्रम ही प्रबल रूप में दिखाई देता है। इसलिये पहिले जो भोग में और त्याग में मनुष्य तैयार होते थे, अब वह सुयोग नहीं है। आरम्भ में भोग अन्त में भी भोग एवं भोग ही में अधिकांश मनुष्य जीवन-लीला विताते हैं। यही कारण है कि—जीवन का उद्देश्य क्या है? इहकाल या परकाल क्या है? इत्यादि विचार आज-कल मनुष्यों के मन में बहुत कम उठते हैं।

७६

संसार में लोग एक (१) में शून्य (०) बढ़ाकर धनी होते हैं, और धर्म पथ में एक का एक ही रखकर एक तत्त्व का संधान पाते हैं। अतएव उभय पथ सम्पूर्ण विप-

रीत हैं, किन्तु सोचना उचित है कि एक (१) न रहने से शून्य का कोई मूल्य नहीं है, इसलिये एक के ऊपर सर्वदा विश्वास रखने से और निर्भरता के साथ एक लच्छ्य रखकर चलने से किसी भी अवस्था में दारिद्र्य की आशंका नहीं रहती ।

७७

स्वधन लाभार्थ स्वभाव की जो कर्म चेष्टा है उसी का नाम साधना है । कर्म मात्र ही साधना है और जीव-मात्र ही साधक है; भगवान् जीव के स्वधन हैं इन कारण वही एक मात्र साधना की वस्तु है । सांसारिक-भाव जब प्रबल रहता है तब सकाम व लौकिक कर्मादि के द्वारा साधना चलती है, उसके ही भीतर भगवत्-भाव प्रच्छन्न रहता है—क्योंकि उनके बिना कुछ नहीं होता । जो कोई जो कुछ करता है यह उसी के पास पहुँचता है, यह स्वतः सिद्ध है । संसारी मनुष्य की साधना को 'अभाव की साधना' कहा जा सकता है, उसमें ममत्ववृद्धि प्रधान होती है, एवं बाहरी कर्म व भोग ही इसके लक्ष्य हैं । जब तक दुःख, दैन्य, लांछना,

शोक, ताप प्रभृति की ताड़ना से मनुष्य हैरान होता है तब तक यह साधना अच्छी चलती है। यह भी एक तरह से स्वभाव की साधना है, कारण इस अभाव के प्रवाह को पकड़ कर न चलने से प्रायः स्वभाव की आवश्यकता जाग्रत नहीं होती। मनुष्य जब स्वभाव में प्रतिष्ठित होने की चेष्टा करता है और स्व-धन के अनुसन्धान में प्रवृत्त होता है तब उसकी परमार्थिक-साधना व निष्काम कर्म का आरम्भ होता है। यही स्वभाव का कर्म ही, त्याग, वैराग्य, प्रेम प्रभृति की भित्ति स्थापन करता है। जन्म लेने के बाद ही मनुष्य परधन व तुच्छ भोगों में जाना चाहता है। शुभकर्मादि के द्वारा सुखमय में जब स्वधन की स्मृति जाग्रत हो उठती है तब वह उसे उद्धार करने के लिये उत्सुक होता है। जितना ही इस तरह उसका स्वभाव का कर्म बढ़ जाता है उसका उतना ही स्व-धन का ज्ञान पैदा होता है। जैसे घर में आग लग जाने पर प्रायः उसे बिना जलाये नहीं छोड़ती, वैसे ही जब प्रकृतसाधना आरम्भ होती है तब वह भी किसी प्रकार शान्त नहीं होती, बल्कि साधना के वेग को दिन प्रतिदिन बढ़ाकर साधक को

स्वपथ में द्रुत गति से चलाती है। पहिले साधक की देहात्म बुद्धि दूर होती है, बाद में कामना-वासना सम्पूर्ण रूप से हट जाती है, उसके बाद सर्वत्र समभाव पैदा होता है, एवं जीव को देह और मन के अतिरिक्त उस आत्मदेव का साक्षात्कार होता है। यही साधना का चरम उद्देश्य है। एक लक्ष्य होना साधना का प्राण है; श्रद्धा, विश्वास और धैर्य इसकी शक्तियाँ हैं।

७८

आचारवान् न होने से चित्त-शुद्धि करने में बाधाएँ आती हैं। कहावत है कि “आचारेर घर आछाड़े भाँगे ना।” भावार्थ—“आचार का घर धक्का लगने या गिरने से नहीं टूटता।” शौचादि के प्रति यथा-सम्भव दृष्टि रखकर सद्विधि अनुसरण करना और शुद्धा-चारी होना आवश्यक है। राज दर्शन (राजा का दर्शन) को जाते समय जैसे कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है, देवदर्शन और देवचिन्ता के समय उससे भी अधिक पवित्रता और सावधानता के प्रति दृष्टि रखना उचित है।

७९

स्व-भाव में प्रतिष्ठित होकर अर्थात् “मैं कौन हूँ”
 इसका यथार्थ ज्ञान लाभ करके, एवं भोगादि से अनासक्त होकर जो उनके [ईश्वर के] रस में मतवाले हो
 रहे हैं उनको साधु कहा जा सकता है। साधु विश्व-प्रेम
 का अधिकारी होने के कारण सर्वदा चिन्ताशून्य, उदार,
 शिशु की भाँति सरल और सन्तुष्ट होता है। इस तरह
 के महापुरुष को देखने से मन स्वतः आनन्दित होता है। एवं उसके संसर्ग से ईश्वर-भाव जाग्रत होता है।
 जैसे जल सब वस्तुओं को साफ कर देता है, उसी तरह
 साधु के दर्शन, स्पर्शन, आशीर्वाद यहाँ तक कि स्मरण
 से भी मलिन वासना दूर हो जाती है। साथी एक
 मात्र भगवान् हैं, साधुओं ने “उनका” संग किया है
 जानकर उनका [साधुओं का] संग करना उचित है।
 स्थूल को सहज ही में आकर्षित करता है, इस कारण
 से वर्तमान समय में साधन-भजन में सत्संग प्रधान
 सहाय है। ऐसा कहा जा सकता है। वृक्षों को भाँति
 साधु लोग सर्वदा ऊर्ध्वमुख रहने पर भी दूसरों को
 छाया और आश्रय दान देना उनका स्वाभाविक व्रत

है। वृक्षों की भाँति साधुओं के लिये भी इच्छा अनिच्छा का द्रन्द्व नहीं है, जो एकान्त भाव से उसकी शरण में जाता है वही शान्ति लाभ करता है और कृतार्थ होता है। जब आत्म-तत्त्व को जानने के लिये मनुष्य के मन में उत्कट आग्रह जाग उठता है, उसी समय सत्संग-लाभ होता है। शुद्ध और स्थिर भाव से श्रद्धालु और विनयी होकर साधुदर्शन को जाना आवश्यक है। साधु के पास चुपचाप बैठकर सच्चिन्ता करने में जितना लाभ है, तर्कादि के द्वारा वैसा फल नहीं मिलता। महापुरुषों का कर्म साधारण लोगों के लिये अनुकरणीय नहीं है, किन्तु उनसे प्राप्त सदुपदेश व आदेश अपने जीवन में जिससे फलीभूत हों वही चेष्टा करनी चाहिये। अन्यथा प्रति दिन नया-नया बीज संग्रह किया और एक भी जीवन में अकुरित न हुआ यह बड़े परिताप का विषय है।

८०

बद्धमाव से मुक्ति के उपाय :—

[१] कर्म और स्मृति—देह, मन और संसार की ओर यथाविहित दृष्टि रखकर प्रकृति की सहायता से

शुभकर्म करना । मुख, कंठ व मन से ईश्वरवाचक नामों का स्मरण, जप, प्रार्थना और तद्विषयक आलोचना करना ।

[२] अनुभूति—ध्यान व अनन्य चिन्ता के द्वारा स्वरूप का अनुसन्धान करना ।

[३] स्थिति-कर्मसमाप्ति, देहात्म-बुद्धि, निर्वाण, सर्वत्र समभाव और समदर्शन, पूर्णतत्त्व पद में लक्ष्य की स्थिरता करना ।

८१

“एकतारा” से एक स्वर निकलता है और हारमोनियम सात स्वर गाता है । जब हारमोनियम बजता है तो साधारण श्रोता अवश्य आनन्दित होते हैं किन्तु भावुक के कानों में “एकतारे का स्वर ही मधुर लगता है”, क्योंकि एक स्वर से हो सप्तस्वरों की उत्पत्ति हुई है । अपनी देह को “एकतारा” बनाने की चेष्टा करो, मन को तार बनाकर निशि दिन केवल बजाते रहो—“जय जगदीश हरे” ऐसा करते-करते इस एक गाने को छोड़ कर तुम्हें और कुछ अच्छा ही न लगेगा ।

८२

हवा चलने पर जैसे नदी और तालाब का जल स्थिर नहीं रहता उसी तरह चिन्ता रहने से मन कभी स्थिर नहीं रहता अतएव दृढ़ता के साथ चिन्ता-शून्यता व शान्त भाव का अभ्यास करो । कभी-कभी मौन-त्रैत का अवलम्बन करो, इससे मन की शक्ति खूब बढ़ेगी । जैसे ही देखोगे कि विषय-चिन्ता पुनः पुनः आकर तुम्हें चञ्चल कर रही है, उसी समय जिस किसी तरह उसे दूर करने की चेष्टा करना । यन्त्रकौशल के द्वारा जैसे बड़े-बड़े तालाब और झील जल शून्य किये जाते हैं, वैसे ही एकनिष्ठ अभ्यास के द्वारा कामना-वासना के सन्दूक को भी खाली किया जा सकता है ।

८३

दूध के छीटे देकर जैसे चीनीका रस परिष्कार किया जाता है वैसे ही ईश्वर-चिन्ता के स्पर्श से चित्त का संस्कार व मलिनता दूर हो जाती है । संसारी लोग प्रायः अधिक आयु होने पर भजन-पूजन करना

आरम्भ करके श्रान्त व निरुत्साहित हो पड़ते हैं। इस कारण से छुटपन से ही ईश्वर-भाव मुख्य करके जीवन निवाहि करने से अन्त में “दिन सप्ताह हो गया, शाम हो गई, [हे हरि] हमें पार करो” कहकर रोना नहीं पड़ता। आत्म रक्षार्थ अर्थवित्त संचय की तरह, धर्म-संचय भी नितान्त प्रयोजनीय है, ऐसा विचार सर्वदा मन में रखना उचित है।

८४

प्रत्येक के जीवन में समय आवश्यक है। सबसे पहले शरीर के प्रति यथासाध्य शासन दृष्टि से संयम का अभ्यास करना चाहिये। नियमादि द्वारा शरीर तैयार होने से मन में संयम का क्रमोदय होता है। तब शरीर और मन के परस्पर संयोग से संयम साधना में प्रवृत्त होना उचित है। शरीर और मन संयत होने पर अपने आप ही आत्मानुसन्धान का आग्रह जाग्रत होता है। उस समय उदासीन न रहकर भगवत् कार्य में मनोनिवेश करने से आत्मानुभूति सुगम हो जाती है। जब तक देह-ज्ञान है तब तक कर्म के बिना कोई

लक्ष्यप्राप्ति नहीं है। सर्वदा स्मरण रखना आवश्यक है कि धन-संचयी कृपण की भाँति अथवा छत्ते को निर्माण करने वाली मधुमक्खी की भाँति कठोरता का अवलम्बन न करने से धर्म-जीवन लाभ नहीं किया जाता है।

८५

देखो, कुछ तो करो। हाथ में एक जप की माला रखो; यदि ऐसा न कर सको तो अपनी घड़ी की टिक-टिक ध्वनि की तरह नाम जप किये जाओ। इसमें विधिनियम कुछ नहीं है, जितना अधिक कर सको, जिसे जो नाम अच्छा लगे, उसी नाम को जपना। नीरसता, अवसाद आने पर भी औषधि की भाँति निगल जाना। इस तरह से सुसमय में मन की माला का सन्धान पाओगे तब देखोगे कि महासमुद्र की ध्वनि की भाँति अविश्वान्त वही माला एक मात्र परम पुरुष परमेश्वरका गुण-गान कर रही हैं, एवं जल, स्थल, अन्तरिक्ष और वायु में सर्वत्र वही ध्वनि गूँज रही है। इसीको नाममय होना कहते हैं। नाम और रूप को लेकर ही संसार है। नाम ही से इसका आरम्भ है और

नाम ही में इसका अन्त है। जब नाम में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर साधक आत्म विस्मृत हो जाता है, तब उसके लिए संसार नहीं रहता है और “अहं” भी चला जाता है। क्या है, और क्या नहीं है, कोई यदि समझे भी; वह भाषा द्वारा उसे प्रकाशित नहीं कर सकता।

८६

‘नहीं है’ कहने से कुछ नहीं है, और ‘है’ कहने से सब ही है। देखो न ! कोई कहता है जगत् मिथ्या है और कोई कहता है सत्य है। बहुत से लोग कहते हैं देव-देवी की कोई सत्ता नहीं है, और कोई कहते हैं अवश्य है, यहाँ तक कि जप-ध्यान करने से उनका दर्शन लाभ भी होता है और उनके वचन भी कानों से सुन सकते हैं। शिशु के लिये मिट्टी और रबड़ का खिलौना जीवित मनुष्य की तरह सत्य है, किन्तु आयु बढ़ने के साथ-साथ उसकी वह दृढ़ धारणा असत्य में परिणत हो जाती है। इसलिये, देख पड़ता है कि प्रत्येक मनुष्य की सामयिक शक्ति और परिणाम के अनुसार विषय पर विश्वास या अविश्वास निरूपित

होता है यथार्थ भाव, अब एकमुखी होकर जमते-जमते घनीभूत हो जाता है तब किसी-किसी के चित्त में संस्कार व तीव्र आकांक्षा के अनुसार महत् भाव प्रत्यक्ष मूर्ति धारण करता है, या वाणी रूप में प्रकाशित होता है। एकनिष्ठ भावुक के चित्त में ये सब नैमित्तिक उत्सव मात्र हैं। आध्यात्म मार्ग में चलते-चलते जब कोई ईश्वर-चिन्ता के प्रवाह में आत्म-विस्मृत हो जाता है तभी इस तरह के विविध खण्ड-विभूतियों के स्वतः दर्शनलाभ होते हैं। ये सहाय-सूचक होने पर भी साधक के लिये अन्तिम लक्ष्य कदापि नहीं हैं। जल से वाष्प-रूप में मेघ जन्मता है, किन्तु इस मेघ की तब तक कोई सार्थकता नहीं है, जब तक कि वह बरस कर जगत् को तृप्त न करे। वैसी ही महासत्ता में डूब कर पूर्णस्थिति लाभ करने की अवधि तक साधना की पूर्णाहुति नहीं होती।

८७

उद्धार होने के लिये “त्राण करो तारा त्रिनयनि” कह कर मन में रो-रो कर माँ को पुकारो। संसार के लिये जितना रोते हो उससे तो कहीं अधिक रोना

होगा। रोते-रोते जब बाहर-भीतर एक हो जाएगा तब देखोगे कि जिसको तुमने इतना ढूँढ़ा, वह अपने अन्तर में प्राणरूप से अति निकट ही विराज रही है।

८८

कृतज्ञता, स्तवस्तुति और अश्रुसिक्त प्रार्थनादि करना बहुत अच्छा है। इसके द्वारा चित्त और शान्त होने से ईश्वर सम्बन्धी कल्पना में विश्वास और सत्य का आभास दिखाई देता है। किन्तु ये गतिशील हैं जानकर साथ-साथ ध्यान-धारण भी आवश्यक है। भाव की गंभीरता चाहिये, उसमें झूबना चाहिये। नहीं तो केवल तैर कर घूमने से शक्ति-क्षय के अतिरिक्त वृद्धि नहीं होती। बहुत जन्मों के संस्कार बड़ और पीपल की जड़ों की तरह देह और मन में सर्वत्र फैले हुए हैं, उसको उखाड़ फेंकने के लिए बाहर-भीतर कठोर कुठाराधात की आवश्यकता है। प्रति दिन जितना हो सके, बहिरन्द्रियों को अन्तमुखी करके उनकी चिन्ता में कुछ देर लगे रहने का चेष्टा करना।

८९

परिजनवर्ग (सम्बन्धियों) के भीतर धर्म-भाव जाग्रत करना हो तो केवल अपने ही धर्मचिरण करने से नहीं चलेगा, उनको भी सदुपदेशादि द्वारा ईश्वर-अनुरक्त करना आवश्यक है। उससे तुम्हारे साधन-भजन में भी सहायता मिलेगी। इसके लिये कम से कम प्रतिदिन संध्या के समय फुरसत से संकीर्तन व भगवत्-संगीत और आलोचना इत्यादि की व्यवस्था करना। भगवत्-शरणागत लोगों की ममत्व-बुद्धि हल्की हो जाती है, एवं विपत्ति में धैर्य रहता है।

९०

तुम मुँह से कहते हो “संसार-बंधन से मुक्ति पाना चाहते हैं” किन्तु असल में देख पड़ता है कि पतंग व हवाई जहाज की तरह पथ का प्रदर्शक-स्वरूप एक सूत्र या सूचक के ऊपर निर्भर न रखकर नहीं चल सकते हो। यदि मुक्त होना हो तो जंजीर काटकर स्वाधीन पक्षी की भाँति रहने-खाने की चिन्ता छोड़कर साहस पर निर्भर कर हवा में उड़ जाना पड़ेगा।

९१

आनन्द, परमपुरुष, व आत्मा सब एक ही को कहते हैं। क्या तुम जानते हो कि विशुद्ध आनन्द किसे कहते हैं? किसके लिये एक से भिन्न दूसरी वस्तु के ऊपर निर्भरता का भाव न रहे,—जो स्वयंप्रकाश है, अपने में आप पूर्ण है, सत्य और नित्य है। सांसारिक रूप रसादि के भोग में तुम सुख पाते हो, किन्तु वह तृप्ति क्षणिक होने के कारण एक विषय से अन्य विषयों को प्राप्त करने के लिये अपनी दौड़-धूप कम नहीं करते। आन्तरिक आनन्द चाहिये। जो सब रसों के आधार हैं, दृढ़ता और उत्साह के साथ उनके रस में रसवान् होने का संकल्प करो। इससे इन्द्रियादि का दासानुदास होकर भिखारी की तरह इस दरवाजे से उस दरवाजे तक बार-बार घूमना न पड़ेगा।

९२

केवल अनुष्ठान (आचार-विचार) करने से साधन भजन में स्थिरता नहीं आती। स्मरण रखना कि

भावहीन अनुष्ठान प्रकृत-धर्म का सहायक नहीं होता। तपस्या के माने हैं ताप सहन करना; त्रिताप की जो ज्वाला है उससे भी अधिक तापित न होने में तपस्या नहीं होती। सब इन्द्रियादि का पूर्ण संयम चाहिये। जितने दिन अपूर्णता का लेशमात्र भी रहेगा उतने दिन पूर्ण का दर्शन पाना कठिन है। जिसके इशारे से संसार चल रहा है, उसकी ओर लक्ष्य रखने की चेष्टा करो, विषय भोग की तृष्णा स्वयं छूट जाएगी।

९३

कन्याकुमारी (अन्तरीप) के समुद्र के किनारे खड़े होकर देख पड़ता है कि लहरों के ऊपर लहरें उठ रही हैं और टूट-टूट कर कौन अनन्त में मिल रही हैं उसका पता नहीं है। यह जगत् भी महासमुद्र विशेषः है; पल-पल में कितनी वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश हो रहा है एवं विनाश होकर कहाँ जा रहा है वह मानव बुद्धि के अगोचर है। यह अविराम गति अच्छी तरह समझा देती है कि जन्म-मृत्यु कहकर कुछ नहीं है,

एवं एक परमपुरुष ही नाना भाव से नाना रूपों में अपना अस्तित्व प्रकाश मात्र कर रहे हैं। प्रकृति के विधानों को सुन्दर दृष्टि से देखना सीखो; उसका निरपेक्ष-भाव अपनाओ, इससे जो सब कारणों के विधाता हैं, उसकी चिन्ता स्वयं जाग्रत होकर एकमात्र उनसे भिन्न अन्य कुछ नहीं है प्रमाणित हो जायेगा।

९४

अनेक लोग बैठकर दुःख प्रकट करते हैं कि— “सदगुरु से दीक्षा ली किन्तु कुछ भी तो नहीं हुआ”, कपड़े पर स्याही का दाग लग जाता है तो उसे निकालने में कितना समय लगता है। फिर चित्त का इतना गाढ़ा मैल क्या दो-चार दिन में ही निकल जायेगा? गुरु व मन्त्र शक्ति के परिणाम की चिन्ता न करके अपनी चेष्टा के प्रति ही लगातार जोर देना आवश्यक है। आलसी होकर या बेगार टालकर धर्म का कार्य नहीं होता। अपने को, आत्म-तत्त्व को जानता हो तो विशेष रूप से परिश्रम करना होगा। गुरु के उपदेशों

पर अटल विश्वास और श्रद्धा रखकर निष्ठा के साथ उपासनादि में मनोनिवेश करने से फल अवश्य ही मिलेगा । धर्म की सेवा करने से धर्म ही उसको धर्म-पथ में हाथ पकड़ कर खींच लेते हैं ।

९५

ज्ञान मार्ग का “मैं”, भक्ति मार्ग का “तुम” एवं योग व कर्म मार्ग का “मैं और तुम” इन तीनों में मूलतः कोई पार्थक्य नहीं है । जो पुरुषार्थ के साथ उसे सब कर्मों और भावों का अग्रदृत बनाकर “मैं और तुम” के समन्वय में अग्रसर हो रहे हैं वे सब उसी महासमृद्धि में ही डूब जायेंगे । तैरते रहने तक ही साम्प्रदायिक और लौकिक भेदाभेद हैं । जिस किसी उपाय से भी निमग्न होने पर देखा जाता है कि परम तत्त्व मात्र एक है, सत्य भाव भी एक है !

९६

मनुष्य मकड़ी की तरह जाल के ऊपर जाल तैयार करता है । अनन्त काल के लिये इस जाल में अपने को

जड़ित रखना चाहता है। भोग मोहादि में पकड़कर एक बार सोचकर नहीं देखता है कि बार-बार जन्म-मृत्यु का घात-प्रतिघात कैसा यन्त्रणादायक है! वर्तमान जीवन में ही कर्मबन्धन शेष करना होगा,—यह अटूट संकल्प लेकर सेनापति की भाँति अपने शक्ति बल से मायाजाल को फाड़ने की चेष्टा कर, अथवा अवरुद्ध सैन्यदल की तरह विश्वपिता के नाम में धरना देकर पड़े रहो, वही तुम्हारी व्यवस्था कर देंगे।

९७

जो अच्छा नहीं लगता उसे सहज ही में छोड़ सकते हो, (किन्तु) जिसे अन्याय समझते हो उसे क्यों नहीं छोड़ सकते? अन्याय को न्याय से पृथक् करने की चेष्टा करो, विष की तरह उसे धृणापूर्वक त्याग करो, और न्याय व शुभ-वासना पुञ्जीकृत करने के लिए प्रति दिन सत्-चिन्ता और शुभ कर्मों के आश्रय में रहो। अपने को जय न करने से संसार को जीतने पर भी मुक्ति का पथ दुर्लभ है।

जन्म-जन्मान्तर के संस्कार ही बन्धन के मूल हैं। कर्म द्वारा जो संस्कार बनते हैं, कर्म द्वारा ही उनका नाश होता है। पुर्वकृत कर्मादि के विविध भाव लेकर ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह मनुष्य का चित्तपट तैयार होता है। जब बहिरन्द्रियों के संयोग से अन्तर में स्मृति की अनुकूल हवा वहती रहती है, तब मन “सुई” (निडिल) का काम करता है, एवं उनके अनुरूप कर्म प्रेरणा देता है। शुभ कर्म करते-करते जितने ही शुभसंस्कारों की वृद्धि होती है उतने ही अशुभ संस्कार दूर होते हैं। अन्त में जैसे अग्नि आवर्जनादि (मैला कूड़ा करकट) को भस्म करके स्वयं बुझ जाती है, उसी तरह शुभ संस्कार भी स्वयं लुप्त हो जाते हैं।

‘स्मरण रखें, स्मरण रखें, भगवान् का नाम सर्वदा स्मरण करते-करते इस संसार रूपी कारागार के

दिन कट जायेंगे । स्वयं तो अच्छे होने की चेष्टा करना ही, जो जहाँ हो, उसे भी बुला लेना । जिसके कर्म के साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है; उसको ईश्वर का नाम (भजन) करने के लिये निरन्तर विनती करो । जो उसको (भगवान् को) जिस किसी विशुद्ध-भाव से पाने को चेष्टा कर रहा है उसको उसी भाव से आलिङ्गन करो, और जिसने उसकी महिमा को जान लिया है उसके सत्संग से अपने जीवन को कृतार्थ करो ।

१०२

“सब उसकी इच्छा है” कहकर जब तक बाहरी दुहाई देकर चलोगे, तब तक रुयाल रखना कि तुम्हारी इच्छा ही प्रबल होकर खेल रही है । देखो, उसकी (भगवान् को) इच्छा जब तुम्हारे अन्दर आकर जगह कर लेगी, तब उसकी इच्छा और तुम्हारी इच्छा ऐसी मिल जाएगी कि दोनों अलग-अलग पहचान में न आयेंगे । जब तक तुम्हारी इच्छा है, तब विहित कर्मादि के द्वारा उसकी इच्छा के अनुगत

होकर चलना, एवं फलाफल सन्तुष्ट मन से सरलता-पूर्वक ग्रहण करना। भगवद्-इच्छा में बिना विचारे आत्मसमर्पण करना ही शुद्ध प्रेमिक का धर्म है। इस तरह ऐसा समय आएगा, जिस दिन 'तुम्हारी इच्छा' कुछ न रहेगी, सब केवल एक शक्तिमय का खेल कह-कर बाहर भीतर अनुभूति होगी। वस्तुतः इस विचित्र जगत् का कोई उद्देश्य ही नहीं रहता, यदि यह न समझ सको कि हम सब उसकी इच्छा के साथ अभेद रूप से मिलित होने के लिये पल-पल अग्रसर हो रहे हैं।

१०१

देखना, सब ही काम एक-एक लक्ष्य लेकर चलते हैं। जहाँ लक्ष्य स्थिर नहीं है, वहाँ कर्म निष्फल होता है, या कर्म सुन्दर नहीं होता। उसको जानने का एक उपाय है उपासना, या नट-मण्डप से देव-मण्डप में प्रवेश करना। उपासना आत्मा और परमात्मा के बीच सेतु-स्वरूप है। जागरण और स्मृति के भीतर से

परमात्मा के सान्निध्य में आत्मा का आना-जाना रूपी नियमित व्यवहार चाहिये । शारीरिक व्याधि के प्रतीकार के लिए जैसे औषधि है, वैसे ही संस्कार-मलिन मन की रक्षा के लिये ईश्वर-चिन्ता आवश्यक है । इसके लिये प्रतिदिन सुबह शाम निर्दिष्ट समय में नित्यकर्मादि तो करोगे ही, उस से अधिक जागतिक विषय वृद्धि के यत्न की तरह उसका ध्यान भी बढ़ाने की चेष्टा करना । जैसे बेताल और बेसुर गाना व कीर्तन जमता नहीं है उसी तरह उपासना के साथ-साथ एक स्वर ताल न रहने में साधारणतः मन नहीं बैठता । आत्मा व भगवान् साधारण वृद्धि के अगोचर होने पर भी प्राण के परिचय से कोई अनजान नहीं है । मनुष्य जब मर जाता है तो सभी कहते हैं कि उसके प्राण नहीं है । प्राण रूपी श्वास-प्रश्वास को साधना का आलम्बन करने से शक्ति की वृद्धि होती है । इसके लिये एकान्त में एक आसन पर सरल भाव से कुछ देर बैठकर अन्तर की ओर एकाग्र दृष्टि रखो । उसके बाद श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ सहज और सरल भाव से नाम व मन्त्र जप करो । श्वास और

नाम एक साथ मिलकर होते-होते दीर्घ अभ्यास के फल से; प्राणवायु की गति स्वभाव में आने से देह स्थिर और मन एकमुखी होगा एवं प्रत्यक्ष देख पड़ेगा कि जीव मात्र ही एक महाप्राण के द्वारा अनुप्राणित है।

॥ इति ॥

भजन

(जय) हृदय-वासिनी शुद्धा सनातनी
(श्री) आनन्दमयी मा ।

भुवन उजला जननी निर्मला
पुण्य विस्तारिणी मा ॥

राज राजेश्वरी स्वाहा स्वधा गौरी
प्रणवरूपिणी मा ।

सौम्या सौम्यतरा सत्या मनोहरा
पूर्ण परात्परा मा ॥

रवि-शशिकुण्डला महाब्योमकुञ्ठला
विश्वरूपिणी मा ।

ऐश्वर्य्यभातिमा माधुर्य्य प्रतिमा
महिमामण्डिता मा ॥

रमा	मनोरमा	शान्ति-शान्ता-क्षमा सर्वदेवमयी	मा ।
सुखदा	वरदा	भक्ति	ज्ञानदा कैवल्यदायिनी
विश्व	प्रसविनि	विश्वपालिनी विश्वसंहारिण	मा ।
भक्त-प्राणरूपा		मूर्तिमती	कृपा त्रिलोकतारिणी
कार्यकारणभूता		भेदाभेदातीता परमदेवता	मा ।
विद्या-विनोदिनी	योगिजन	रञ्जिनी भवभय भज्जनी	मा ।
मन्त्र	बीजात्मिका	वेदप्रकाशिका निखिल-व्यापिका	मा ।

सगुणा स्वरूपा निर्गुणा निरूपा
 महाभावमयी मा ॥
 मुग्ध चराचर गाहे निरन्तर
 तव गुण मधुरिमा ।
 (मोरा) मिलि प्राणे प्राणे प्रणमि
 (श्री) चरणे जय जय जय मा ॥
 डाको मा मा मा मा मा मा ।
 बोलो, गाओ भजो, जपो मा मा मा ॥

प्रणाम

ॐ भवतापविनाशिन्या आनन्दघनमूर्तये ।
 ज्ञानभवितप्रदायिन्यै मातस्तुभ्यं नमो नमः ॥

